शैली और विधाओं का विकास

अमर नाथ सिन्हा
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना

भारती भवन
पटना-४

प्रकाशक :
भारती भवन, पटना-४

मुद्रक :
नयन प्रिंटिंग प्रेस, पटना-४

मूल्य : २.५०

ममतामयी माँ को,
जिसने मुझे जीवन-दृष्टि दी
और
श्रद्धेय पिताजी को,
जिन्होंने मुझे साहित्यिक रुचि दी
सादर समर्पित

—अमर नाथ सिन्हा

दो शब्द

सृजन में एक अनिवार्यता होती है और प्रस्तुत पुस्तक-लेखन के क्रम में मैंने भी एक अनिवार्यता का अनुभव किया है। प्रस्तुत पुस्तक में मेरे दो दृष्टिकोण रहे हैं— पुनर्मूल्यांकन और अनुसंधान। हिन्दी-गद्य-विधाओं के क्रम में पुनर्मूल्यांकन-वृत्ति तथा हिन्दी-गद्य-शैली के विवेचन-क्रम में अनुसंधान-वृत्ति देखी जा सकती है।

पुनर्मूल्यांकन के क्रम में मैंने वैज्ञानिक-ऐतिहासिक दृष्टि को प्रधानता दी है। इनमें इतिवृत्त अथवा संग्रह की अपेक्षा प्रवृत्तिगत विकास तथा उसके मूल्यांकन का प्रयास है। प्रचलित सिद्धान्तों तथा स्थापनाओं को मैं ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं कर सका हूँ और जहाँ अपनी दृष्टि से आवश्यक हुआ है वहाँ मैंने या तो संशोधन उपस्थित किये हैं अथवा मूलतः परिवर्त्तित कर दिये हैं। मैंने गलत किया है अथवा सही यह तो विद्वद्वर्ग ही बतला सकेगा, मेरे सामने तो प्रश्न सिर्फ अपने दृष्टिकोण का रहा है और यथासंभव मैंने उसे पुष्ट करने की चेष्टा की है।

गद्य-शैली का वर्गीकरण तथा उसके विकास का विवेचन संभवतः पूर्णतया मौलिक है। अभी तक ऐसा प्रयास नहीं हुआ है। इस खंड को लिखते समय मैंने अनुसंधान के बल पर अपनी अवधारणाएँ स्पष्ट की हैं। यथासंभव मैंने इसके औचित्य की पुष्टि करने की भी चेष्टा की है। फिर भी इसकी उपादेयता का मूल्यांकन सुधि पाठक और आलोचक ही कर सकेंगे।

हिन्दी-गद्य को मैंने भारतीय जन-जागरण की एक अनिवार्य उपलब्धि माना है। इस जन-जागरण तथा भारतीय जीवन की बहुदिक् संक्रमणशीलता की व्यापकता को ही मैंने अपने अध्ययन का धरातल माना है। ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा उसके पुनर्मूल्यांकन की प्रवृत्ति की अनिवार्यता की पृष्ठभूमि में गद्य-शैली और विधाओं का मूल्यांकन किया गया है। स्वयं को विशाल पाठक-वर्ग के सम्मुख लाने के लिए इतना ही पर्याप्त है।

पुस्तक-लेखन के लिए आशीर्वाद श्रद्धेय गुरुदेव डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, डी-लिट्, उपनिर्देशक, केन्द्रीय हिन्दी उपनिदेशालय, भारत-सरकार, का मिला और प्रेरणा श्री मुरली मनोहर प्रसाद सिंह की मिली। मैं दोनों का आभारी हूँ। भारती भवन के संचालक श्री मोहित मोहन बोस की तत्परता और मृदुल उलाहनों के

का[illegible] भी [illegible]र स ही नही यह पुस्तक प्रकाश म आया इसके लिए म स्वय को नही [illegible]न्हा को बधाइ देता हू

'कान्तासम्मित' उपदेश देकर पत्नी ने पुस्तक-लेखन के आग्रह किये—देर-देर तक जगकर प्रेरित किया। वे अलग तो हैं नहीं—इसलिए मौन हूँ।

अन्त में यह कि मैं अपने सभी गुरुजनों, मित्रों तथा सुहृदों का ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे दृष्टि दी, उत्साह दिया और सलाह दिये।

पटना
८ मई, १९६६

अमर नाथ सिन्हा

विषय-सूची

हिन्दी गद्य का विकास

आधुनिक काल : पिठरपाकीय आवर्त्तन की कारणभूत परिस्थितियाँ और गद्य-शैली की अनिवार्यता।

साहित्येतिहासिक धारा एक अव्याहृत जातीय संस्कृति की निरन्तर गतिशीलता की पर्याय है। यह कोई पदार्थगत उपलब्धि नहीं है, जिसे खंडशः विभाजित किया जा सके। पर इतना अवश्य है कि कोई भी धारा, कोई भी गति, अबाधित होती हुई भी, एक संपूर्ण इकाई नहीं होती, बल्कि विभिन्न इकाइयों का समाहित रूप होती है—बुद्ध के प्रतीति समुत्पाद की तरह। ये विभिन्न इकाइयाँ अपनी विशिष्टता में, साहित्येतिहास के संदर्भ में, काल-विशेष की संज्ञा प्राप्त करती है तथा अपनी समष्टि में साहित्य-धारा कहलाती हैं। अतः साहित्येतिहास के संदर्भ में एक ओर जहाँ उसका सातत्य महत्त्वपूर्ण है, वहीं उसकी विभिन्न इकाइयाँ भी महत्त्वपूर्ण होती है। इसीलिए साहित्य-धारा को कई खंडों में बाँटकर हम देखते हैं। यहाँ इतना स्मरण रख लेना अलम् होगा कि ये विभाजन औपचारिक ही हैं—ऐकान्तिक नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि किसी काल को संदर्भहीन या आसंगहीन बनाकर नहीं देखती—अतः वह ऐकान्तिक भी नहीं हो सकती।

अस्तु:, हिन्दी-साहित्येतिहास का अध्ययन इन्हीं औपचारिक काल-खंडों मे बाँटकर किया जाता है, यद्यपि साहित्य-संदर्भ में आदिकाल, मध्यकाल या आधुनिक काल प्रभृति वर्गीकरण विशेष महत्त्व नहीं रखते। इधर एक आलोचक ने हिन्दी-साहित्य को सिर्फ दो काल-खंडों में ही देखने का आग्रह किया है अर्थात् मध्यकाल और आधुनिक काल। मेरी दृष्टि में हिन्दी-साहित्य के विकास की कोई ऐसी अपरिहार्यता आज उपस्थित नहीं हुई है, जिसके लिए काल-विभाजन को मौलिक दृष्टि (?) से देखने की आवश्यकता आ पड़ी हो। यह सिर्फ कुछ-न-कुछ नये शिगूफे छोड़ने की बात है। पहले हम काल पर आधारित युग-विभाजन की औचित्य-परीक्षा ही करें।

'आदिकाल' नामकरण के क्रम में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' में यह भी संकेत किया है कि यह नामकरण साहित्य की प्रारंभिक अवस्था का भ्रम भी उत्पन्न कर सकता है और हिन्दी-साहित्य

कि वस्तुत इस भ्रम की गुंजाइश इस काल मे नहीं है क्योंकि साहित्य-तत्त्व की दृष्टि से आदिकाल काफी समृद्ध है। बात जो भी हो आदिकाल उक्त भय-भ्रम तो उत्पन्न करता ही है। और, जब साहित्य-तत्त्वों की दृष्टि से वह समृद्ध है ही तो उसे आदिकाल ही क्यों कहा जाय ? ऐसी बात नहीं ही है कि आदिकाल का साहित्य अपनी पूर्व-परंपरा से विच्छिन्न होकर 'ठेठ हिन्दी-साहित्य' की कोई पृथक् लक्षणवत् प्रवृत्ति लेकर आया हो। फिर आधार क्या है ? निश्चय ही वह आधार भाषा है। वस्तुत: अपभ्रंश-साहित्य से हिन्दी-साहित्य को पृथक् करने का आधार भाषा ही है, अन्य कुछ नहीं, क्योंकि विषय और शिल्प दोनों दृष्टियों से रीतिकाल तक का हिन्दी-साहित्य, संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की परंपरा को कमोबेश उदाहृत करता है। अत स्पष्ट है कि आदिकाल प्रवृत्तिगत अर्थ-गौरव नहीं प्राप्त करता, मात्र यांत्रिक विभाजन है। उसी प्रकार मध्यकाल को लीजिए। इस संदर्भ में भी जब तक भक्तिकाल या रीतिकाल हम नहीं कहते, युग-स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य है कि यहाँ हिन्दी-साहित्य उदाहृत करने के क्रम में न सिर्फ भाषा की दृष्टि से ही भिन्न है, बल्कि पद्धति भी भिन्न है। अत: आदिकाल भाषा की दृष्टि से अपनी पूर्व-परपरा से पृथक् होता है और भक्तिकाल-रीतिकाल, पद्धति तथा विषय-स्वीकृति की सीमा की दृष्टि से भी अपना पृथक् व्यक्तित्व कायम करता है। यहाँ इतनी साव-धानी और बरतनी है कि मध्यकाल से मेडियॉकर-साहित्य का अर्थ-भ्रम न उत्पन्न हो और चूँकि यह होता है, इसलिए यह भी महज औपचारिक ही है।

आधुनिक-काल के साथ स्थिति थोड़ी भिन्न है। आधुनिक-काल की जो प्रति-क्रिया है, हिन्दी-साहित्य के लिए अब तक अपरिचित—अपूर्वाशित थी। किन्तु, आधुनिक काल कहने में पुन: अर्थ-भ्रम की गुंजाइश है, क्योंकि आदि-मध्य या आधुनिक सभी सापेक्ष प्रश्न हैं। और, यह सापेक्षता का प्रश्न भावी इतिहासकार के लिए और भी जटिल होता जायगा। अत: यह स्पष्ट है कि आधुनिक काल कह देने से युग-प्रवृत्ति सामने नहीं आती। इसके लिए हमें और भी वस्तु-सापेक्ष (True to the skin) होना पड़ेगा। इन सारे विवेचनों का उद्देश्य सिर्फ यह है कि इस काल-विभाजन को हम सर्वथा आत्यंतिक न मान ले। यह एक सापेक्ष प्रश्न है, अत: इस सापेक्षता को हमें स्पष्ट करना होगा। आगे इसी सापेक्षता को आधुनिक काल के संदर्भ मे स्पष्ट करने की चेष्टा की जायगी, क्योंकि साहित्य में जो तात्कालिक व्यत्यय आता है उसकी कुछ कारणभूत परिस्थितियाँ होती हैं और इनके प्रति युग प्रतिक्रिया (यहाँ प्रतिक्रिया को बृहत् अर्थ-गौरव दिया जा रहा है—विधेय-निषेध दोनों। वस्तुत व्यापक अर्थ में प्रत्येक युग प्रतिक्रिया ही करता है। इस अर्थ में प्रतिक्रिया से ग्रहण-त्याग और युग-परिवर्त्तन, ये सभी व्यंजित होते हैं) करता है।

युग के प्रासंग-निरूपण में राजनीतिक परिस्थितियो की सागोपाग उल्लेख प्रवृत्ति बहुप्रचलित पद्धति है, किन्तु इस प्रकार के विवरण स सिवा इसके कि पृष्ठभूमि का किंचित् परिचय मिल जाता हो, और कुछ भी हाथ नहीं लगता। सच पूछिए तो यह पद्धति भी उपयोगी हो सकती थी, पर हो न सकी। इसका कारण यह है कि परिस्थितियों का ज्यादातर पूर्णत: निस्संग निरूपण ही किया गया—उनका विनियोग साहित्य में हम नहीं कर पाये। डॉ० श्यामसुन्दर दास भी राजनीतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त संगीत, शिल्प, चित्रकला इत्यादि के कुछ विवरण ही दे सके। यह ठीक है कि डॉ० दास आचार्य शुक्ल से इदृक्तया महत्व अर्जित करते हैं, किन्तु इयत्तया वहीं के वहीं हैं। आवश्यकता इस बात की होती है कि उन परिस्थितियों का विनियोग अथवा प्रयोग, साहित्य-क्षेत्र की क्रिया-प्रतिक्रिया के संदर्भ में हो। साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम युग को साहित्य-दृष्टि से देखें—यदि सिर्फ साहित्य को युग की दृष्टि देखा गया तो वह एकांगी अध्ययन ही होगा। अत: युग की परिस्थितियाँ और साहित्य पारस्परिक प्रायोगिक महत्त्व रखते हैं।

अत: सर्वप्रथम मध्यकाल और आधुनिक काल के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण तत्त्वान्तरणों का अध्ययन हम करेंगे। यह इसलिए भी आवश्यक है कि आधुनिक काल मध्यकाल से विचारतत्त्व और वस्तुतत्त्व दोनों दृष्टियों से भिन्न है। वे तत्त्वान्तरण-सूत्र इस प्रकार हैं—

(क) वैचारिक—(i) आस्था-केन्द्र का विघटन,
(ii) जीवन-मूल्यों में परिवर्तन,
(iii) पुनरुत्थान और पुनर्मूल्यांकन,

(ख) वस्तुगत—(i) सामन्ती व्यवस्था का विघटन,
(ii) अर्थ-दृष्टि का विकास,
(iii) मध्यवर्ग का उत्थान।

ये तत्त्वान्तरण-सूत्र व्याख्या की अपेक्षा रखते है। यहाँ एक बात स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ तक वैचारिक तत्त्वान्तरणों का प्रश्न है, भारतेन्दु-काल में इसकी सभावना जन्म ही ले सकी—पुष्ट न हो पायी। वैचारिक दृष्टि से उस युग का लेखक यत्र-तत्र राष्ट्रीय चेतना या भारत की आर्थिक दुरवस्था को एक क्षीण स्वर ही दे सका। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कविताओं में तो भक्ति और रीति-परंपरा को स्वर देते ही रहे, अपने अधिकांश नाटकों में भी वे मध्यकालीन प्रवृत्तियों से मुक्त नही हो सके थे—'अंधेर नगरी चौपट राजा' प्रभृति नाटक इस दृष्टि से अपवाद मात्र हैं। यहाँ वह सशक्त विचार-ऊर्जा नहीं मिलती जो पारंपरिक चिन्तन-सरणी को महत्त्वपूर्ण मोड़ दे सके। भारतेन्दु को युग-प्रवर्त्तक मानने में तथ्य सिर्फ इतना है कि वे युग की सीमाओं के पार संकेत भर कर सके और यह श्रेय उनके बाद

क लमका को है कि म उन दिशा सकता को युग घम बना सक अत भारतन्दु-नान उष:काल ही है, जिसमें संभावना उभरती मात्र है—'आवहु सब मिली, रोवहु भारत भाई' में यही संकेत है।

अस्तु, आधुनिक काल का सबसे बड़ा अन्तरण है आस्था-केन्द्र का विघटन। अब तक के भारतीय दर्शन का विकास कुछ इस ढंग से हुआ कि उपनिषदीय वाक्यों से भी 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' और शांकर प्रतिस्थापन 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' पर हमारी आस्था तो टिक सकी, किन्तु 'अहं ब्रह्मोस्मि' अथवा 'तत्त्वमसि' पर हम यकीन नहीं कर सके। इस मिथ्यात्व-स्वीकृति में बौद्ध-दर्शन का 'दु:खवाद' और ब्राह्मण-धर्म का 'भाग्यवाद' कम सहायक नहीं रहा। और, जैसा कि पार्जिटर ने बतलाया, ब्राह्मण-क्षत्रिय के शक्ति-संघर्ष में जनसाधारण निरन्तर अपने पर का विश्वास खोता गया। इस प्रकार की दुरभि-संधि एक ओर तो हमें सारे कृत्य-कुकृत्य के लिए किसी अज्ञात शक्ति के प्रति उत्तरदायी बना देती है, दूसरी ओर जीवन के प्रति उदासीन भी बना देती है। हम किसी अज्ञात लोक की सुख-कल्पना में यथार्थ को भूल गये। फलत: अठारहवीं शती तक आते-आते भारतीय चिन्तन एक निविड़ जड़ता और दिमागी गुलामी से जर्जर हो चुकता है। इसी बीच अँगरेजों का वस्तुवाद हमें आकर्षित करने लगता है। उनका चिन्तन और वस्तुवाद सर्वथा पृथक् गति से आगे बढ़ता है। गैलिलियो को चर्च के हाथों दंडित होना पड़ता है, यह ठीक है, किन्तु इससे गैलिलियो की परंपरा मिट नहीं जाती है और भारत में तो ऐसे संघर्ष की स्थिति आती ही नहीं। मध्ययुग में हमारी शक्ति गीता और कुरान के अनावश्यक श्रेष्ठता-प्रतिपादन में होती रही। फलत: अँगरेजों का वस्तुवाद, उनका अर्थ-तंत्र—उनकी विज्ञान-दृष्टि, भारतीय बुद्धिजीवी के लिए नये आयाम लेकर आता है और उन सबका प्रथम आघात होता है भारतीय आस्था के केन्द्र पर—वह है मानवोपरि सत्ता का क्रमिक अवमूल्यन। "ज्यों-ज्यों हम आधुनिक युग में प्रवेश करते गये त्यों-त्यों इस मानवोपरि सत्ता का अवमूल्यन होता गया। मनुष्य की गरिमा का नये स्तर पर उदय हुआ और माना जाने लगा कि मनुष्य अपने में स्वत: सार्थक और मूल्यवान है—वह आन्तरिक शक्तियों से संपन्न, चेतना-स्तर पर अपनी नियति के निर्माण के लिए स्वत: निर्णय लेने वाला प्राणी है। सृष्टि के केन्द्र में मनुष्य है।" (देखिए—मानव मूल्य और साहित्य : डॉ० धर्मवीर भारती।) पूर्ववर्ती आस्था-केन्द्र के विघटन से भारतीय जीवन में वैचारिकत: धरातलीय संक्रमण की स्थिति उत्पन्न होती है। परलोक, स्वर्ग, नरक, भाग्य इत्यादि के स्थान पर सिर्फ पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा क्रमश बढ़ती जाती है। परिणामत: बुद्धिवादिता और विश्लेषण के प्रति विशेष रुचि जागृत हुई। आस्था-केन्द्र का यह संक्रमण दृष्टिकोण में परिवर्त्तन का कारण बना। परिणामत: जीवन-मूल्यों में परिवर्त्तन की दिशाएँ स्पष्ट हुईं।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध मे उपयुक्त दृष्टिकोण के कुछ सनेत ही मिल पाये थे—यह उस युग की सामर्थ्य-सीमा भी थी। वस्तुत आधुनिक युग सबसे महान् उपलब्धि है, मनुष्य का मानव होने के नाते प्रतिष्ठापन और उन्नीसवी शती में लोक-सापेक्ष यह दृष्टिकोण बहुत कुछ स्वीकृत नहीं हो सका था। मनुष्य को उसके पूर्व मानदण्डों से मुक्त करने का श्रेय बीसवीं शती को है। भारतीय संदर्भ में मध्यकाल ने धार्मिक दृष्टि से कर्मकांडों से हमें अभिभूत कर रखा था और राजनीतिक दृष्टि से लघु स्वार्थों में ही पौरुष एवं शौर्य को सर्वस्व मान सकने का दृष्टिकोण दिया था। सामाजिक क्षेत्र में बाल-विवाह, सती-प्रथा, जाति-रूढियाँ इत्यादि तथा धार्मिक क्षेत्र मे नरबलि, बाल-हत्या एवं तथाकथित देवी-देवताओं को मनाने की योग्यता (?) ही उन्नीसवीं शती तक हमारी कुल पूँजी थी। इस पूँजी-बल (?) से मनुष्य के मनुष्यरूप की हत्या ही हुई। बीसवीं शती भारतीय परंपरा की वह पहली कडी है, जिसने हमें उपर्युक्त व्यामोहों से, अन्धविश्वासों तथा भ्रमजालों से मुक्त किया। सामाजिक क्षेत्र में राजा राम मोहन राय, धर्म-क्षेत्र में दयानन्द सरस्वती, राजनीति-क्षेत्र में बालगंगाधर तिलक तथा दर्शन-राजनीति में स्वामी विवेकानन्द की परपरा हमें जागृति का संदेश देती है। चूँकि अँगरेजों के संपर्क में आकर हमारा दृष्टिकोण भौतिक हो चला था, और वस्तुत: यह आवश्यक भी था, इसलिए उसी सदर्भ में परंपरा की व्याख्या हमें ग्राह्य थीं। इसीलिए तिलक और विवेकानन्द बौद्धिक जागरण में अधिक योगदान दे सके। वस्तुत: हमें धार्मिक पुनर्जागरण की आवश्यकता नहीं थी—धर्म मानव-अवमूल्यन की समिधा ही जुटा पाया था, हमें तो बौद्धिक पुनर्जागरण की आवश्यकता थी। भारतीय मनीषा तिलक, विवेकानन्द आदि के रूप में जागृत हो चुकी थी और उसे वैज्ञानिक आसंग की आवश्यकता थी; अँगरेजो ने अपने स्वार्थों के कारण ही सही, वह आसंग हमें दिया। फलत: मोक्ष के नाम पर धर्म की निष्क्रियता से हमें मुक्ति मिली और अर्थ तथा काम—वर्त्तमान युग की सबसे बडी समस्याओं पर हमारा ध्यान अधिकाधिक केन्द्रित होने लगा। भारतीय जीवन को नया संदर्भ मिला और परंपरा को नयी दृष्टि। इससे हमारी आस्था जीवन के प्रति दृढ़ होती है। परिणामत: हमारा जीवन-मूल्य मुक्ति-प्राप्ति नहीं रहकर जिजी-विषा बन गयी। मध्यकाल ने जीवन के मिथ्यात्व प्रतिपादन के माध्यम से जीवन के प्रति जो अनास्था उत्पन्न की थी (कबीर का मायावाद, सूर और तुलसी की लीला-स्वीकृति आदि) उसकी उपादेयता नष्ट हो चली। जीवन-मूल्यों के संदर्भ मे नया दृष्टिकोण जन्म लेता है—जीवन और मृत्यु दोनों ही सत्य हैं और चूँकि मृत्यु ऋणात्मक है, जीवन ही जीवन का ध्येय है। और, तब जीवन हमारा रुचि का केन्द्र बन जाता है।

दृष्टिकोण के इस परिवर्त्तन और नये जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा के परिणाम-

स्वरूप पुनर्मूल्यांकन की महसूस हुई इसे कुछ लोग पुनरुत्थान भी कहना चाहेंगे। पर पुनरुत्थान वस्तुत इस उपलब्धि की पृष्ठभूमि मात्र है इसे दूसरे रूप स समझें तो बात और भी स्पष्ट हो जायगी। भारत में पुनरुत्थान के कई संदर्भ हैं— सामाजिक संदर्भ में जाति-रूढ़ि के प्रति अनास्था, धार्मिक संदर्भ मे वैदिक औपनिषदिक उपलब्धियों की नवीन व्याख्याएँ और समासत: वैचारिक संदर्भ मे वस्तु को नये ढंग से सोचने-विचारने की सामर्थ्य और रुचि इस पुनरुत्थान के विविध संदर्भ हैं। परन्तु, पुनरुत्थान के ये संदर्भ भावी संभावनाओं की भूमिका ही तैयार करते हैं। वे भावी संभावनाएँ पुनर्मूल्यांकन के रूप में सामने आती हैं। अत वैसे पुनरुत्थान का एक अपना मूल्य है— पीठिका प्रस्तुत करने का, पर वस्तुत: हमे आवश्यकता थी पुनर्मूल्यांकन की— स्वतन्त्र चिंतन की। अँगरेजी सभ्यता ने हमे एक ओर जहाँ मानसिक दासता का पाठ पढ़ाया, जिससे अभी भी हम मुक्त नही हो सके है, वही स्वतन्त्र चिंतन की प्रेरणा भी दी। अँगरेजी भाषा-साहित्य के माध्यम से हम जिस संस्कृति के संपर्क मे आये उसने हमें किपलिंग की आशावादिता और नीत्शे की निराशावादिता, रूसो के मानव-मुक्ति-सिद्धांत और मार्क्स की मानव-आस्था तथा डार्विन के विकासवाद और फ्रायड के मनोविश्लेषण का परिचय दिया। उस संस्कृति में औद्योगिक क्रान्ति का पुनर्जागरण था, यांत्रिक प्रगति का इतिहास था और थी वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सामर्थ्य। यहाँ इतना स्मरण रखना है कि यह सारे परिवर्त्तन एक दिन में नहीं हो गये। हिन्दी-साहित्य का आधुनिक काल काफी अरसे तक पुनरुत्थान-युग का साहित्य रहा। भारतेन्दु से लेकर प्राय: छायावाद तक भारतीय पुनरुत्थान का साहित्य ही लिखा जाता रहा, तब तक पुनर्मूल्यांकन जिज्ञासा बनकर प्राय: आता है।

समासत: बात इतनी है कि आधुनिक युग में वस्तु अथवा तथ्य को स्वयंसिद्ध मानकर हम स्वीकार नहीं कर सके। यहाँ तक कि परंपरा भी स्वयंसिद्ध नही रह गयी। नवीन यंत्र-युग में स्वयं को फिट कर सकने के लिए यह आवश्यक था कि प्रत्येक वस्तु के प्रति जिज्ञासा की जाती— भावना की अपेक्षा बुद्धि की कसौटी प्रयोग में लायी जाती। भारतीय चिंतन इसी बौद्धिक क्रान्ति के उपक्रम से गुजर रहा था। उन्नीसवीं शती तक इसी उपक्रम की स्थिति रही। बीसवीं शती में उस बौद्धिक क्रान्ति का स्वर और स्वरूप स्पष्ट होने लगा। यही कारण है कि उन्नीसवीं शती तक का हिन्दी-साहित्य एक ओर परंपरा एवं रूढ़ियों से मुक्ति-प्रयास में लगा था, दूसरी ओर नवीन की ओर रुचि भी तीव्र गति से बढ़ रही थी। इस दृष्टि-संतुलन का विकास आगे चलकर मध्यवर्ग के जीवन-दर्शन के पर्याप्त-रूप में होता है— यहाँ ध्यातव्य रहे कि यह मध्यवर्ग का विकास अपने-आप में बहुत बडी ऐतिहासिक शक्ति सँजोये था। इसका विवेचन हम बाद में करेंगे।

तो संक्षप में आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रारम्भिक कालावधि में हिन्दी के साहित्यकारों का मानस-स्तर उपर्युक्त वैचारिक एवं अवधारणिक संक्रमण-स्थिति से निर्मित हो रहा था। इसी अनुपात में, बल्कि यों कहें इनकी अपेक्षा अधिक त्वरा से वस्तुगत आवेष्टन भी परिवर्त्तित हो रहा था। ऐतिहासिक विकास की परिवर्त्तनशील दिशाएँ सक्रिय थीं। इतिहास स्थैर्य की संज्ञा नहीं सतत् परिवर्त्तनशीलता का पक्षधर है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऐतिहासिक परिवर्त्तन में 'ह्रास' नाम की कोई चीज नहीं होती। इतिहास सिर्फ विकास करता है, हर परिवर्त्तन अपने युग से युगपतिक सम्बन्ध रखता है।

अस्तु, यहाँ अब हम वस्तुगत परिवर्त्तन की दिशाओं का अध्ययन करेंगे। आधुनिक युग की प्रारम्भिक कालावधि की तीन महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं—

(i) अँगरेजी शिक्षा का प्रसार,

(ii) भारतीय जीवन में यंत्रों का प्रवेश अथवा उद्योगीकरण, और

(iii) पूँजीवाद का प्रवेश।

सर्वप्रथम पूँजीवाद को लेकर चलें, क्योंकि यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है। वैसे पूँजीवाद का पूर्ण प्रवेश, भारतीय जीवन में सन् १९३० ई० के बाद ही होता है; परन्तु अँगरेजों की शासनिक एवं व्यापारिक नीति के कारण उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में भारतीय जीवन में अपूर्वाशित अर्थ-व्यवस्था प्रवेश करती है। अब तक भारतीय पूँजी की रीढ़ खेती थी अथवा छोटे-मोटे उद्योग-धन्धे; मध्यकाल में तो खेती ही केन्द्र रही। अर्थात् अठारहवीं शती तक भारतीय अर्थ-व्यवस्था बहुत कुछ कृषिगत ही थी, जिसमें क्षेत्रीय स्वायत्त का महत्त्वपूर्ण स्थान था। सामंती व्यवस्था इसी क्षेत्रीय स्वायत्त की राजनीतिक रूप है।

पूँजीवाद के आगमन के साथ-साथ वर्त्तमान भारत की अर्थ-व्यवस्था तीव्रता से बदलने लगी। पूँजीवाद और उद्योगीकरण युगपतिक ही हैं। भारतीय जीवन में दोनों युगपतिक व्यवस्थाओं का प्रवेश समान्तरीय रूप में होता है। इनकी संगतियाँ-असंगतियाँ अथवा यह कहें शक्ति एवं सीमाएँ भी एक साथ ही सामने आयीं।

पूँजीवाद व्यक्तिवाद को लेकर आता है। अर्थ के क्षेत्र में यह व्यक्तिवाद पूँजी-केन्द्रन को बल देता है और साहित्य-क्षेत्र में स्वच्छंदतावाद को। इनके कारण है। जनतंत्र ने भारतीय जीवन में एक प्रकार का तीव्र संतरण उपस्थित किया। अर्थ-क्षेत्र का त्वरित संतरण, सामान्य जीवन के मानस-क्षेत्र में एक विश्रृंखलता (Chaos) लाता है। पुरानी मान्यताएँ, जीवन की स्थिर प्रणाली समाप्त होने लगी। समस्याएँ बढीं। उद्योगीकरण ने नागरिकीकरण को बल दिया। ग्रामीण-व्यवस्था की जडता एक साथ तीव्र खिंचाव सह नहीं सकी। परिणामत: प्राचीन अर्थ-व्यवस्था एक-ब-एक टूटने लगती है। इसी समय भारतीय जीवन-पट पर एक नये वर्ग

स्वरूप पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता महसूस हुई। इसे कुछ लोग पुनरुत्थान भी कहना चाहेंगे। पर पुनरुत्थान वस्तुतः इस उपलब्धि की पृष्ठभूमि मात्र है। इसे दूसरे रूप से समझें तो बात और भी स्पष्ट हो जायगी। भारत में पुनरुत्थान के कई संदर्भ हैं— सामाजिक संदर्भ में जाति-रूढ़ि के प्रति अनास्था, धार्मिक संदर्भ में वैदिक औपनिषदिक उपलब्धियों की नवीन व्याख्याएँ और समासतः वैचारिक संदर्भ में वस्तु को नये ढंग से सोचने-विचारने की सामर्थ्य और रुचि इस पुनरुत्थान के विविध संदर्भ हैं। परन्तु, पुनरुत्थान के ये संदर्भ भावी संभावनाओं की भूमिका ही तैयार करते हैं। वे भावी संभावनाएँ पुनर्मूल्यांकन के रूप में सामने आती है। अत वैसे पुनरुत्थान का एक अपना मूल्य है— पीठिका प्रस्तुत करने का, पर वस्तुतः हमें आवश्यकता थी पुनर्मूल्यांकन की— स्वतन्त्र चिंतन की। अँगरेजी सभ्यता ने हमें एक ओर जहाँ मानसिक दासता का पाठ पढाया, जिससे अभी भी हम मुक्त नही हो सके हैं, वहीं स्वतन्त्र चिंतन की प्रेरणा भी दी। अँगरेजी भाषा-साहित्य के माध्यम से हम जिस संस्कृति के संपर्क में आये उसने हमें किपलिंग की आशावादिता और नीत्शे की निराशावादिता, रूसो के मानव-मुक्ति-सिद्धांत और मार्क्स की मानव-आस्था तथा डार्विन के विकासवाद और फ्रायड के मनोविश्लेषण का परिचय दिया। उस संस्कृति में औद्योगिक क्रान्ति का पुनर्जागरण था, यांत्रिक प्रगति का इतिहास था और थी वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सामर्थ्य। यहाँ इतना स्मरण रखना है कि यह सारे परिवर्तन एक दिन में नहीं हो गये। हिन्दी-साहित्य का आधुनिक काल काफी अरसे तक पुनरुत्थान-युग का साहित्य रहा। भारतेन्दु से लेकर प्रायः छायावाद तक भारतीय पुनरुत्थान का साहित्य ही लिखा जाता रहा, तब तक पुनर्मूल्यांकन जिज्ञासा बनकर प्रायः आता है।

समासतः बात इतनी है कि आधुनिक युग में वस्तु अथवा तथ्य को स्वयंसिद्ध मानकर हम स्वीकार नहीं कर सके। यहाँ तक कि परंपरा भी स्वयंसिद्ध नही रह गयी। नवीन यंत्र-युग में स्वयं को फिट कर सकने के लिए यह आवश्यक था कि प्रत्येक वस्तु के प्रति जिज्ञासा की जाती— भावना की अपेक्षा बुद्धि की कसौटी प्रयोग में लायी जाती। भारतीय चिंतन इसी बौद्धिक क्रान्ति के उपक्रम से गुजर रहा था। उन्नीसवीं शती तक इसी उपक्रम की स्थिति रही। बीसवीं शती में उस बौद्धिक क्रान्ति का स्वर और स्वरूप स्पष्ट होने लगा। यही कारण है कि उन्नीसवीं शती तक का हिन्दी-साहित्य एक ओर परंपरा एवं रूढ़ियों से मुक्ति-प्रयास में लगा था, दूसरी ओर नवीन की ओर रुचि भी तीव्र गति से बढ़ रही थी। इस दृष्टि-संतुलन का विकास आगे चलकर मध्यवर्ग के जीवन-दर्शन के पर्याय-रूप में होता है— यहाँ ध्यातव्य रहे कि यह मध्यवर्ग का विकास अपने-आप में बहुत बडी ऐतिहासिक शक्ति सँजोये था। इसका विवेचन हम बाद में करेंगे।

तो, संक्षेप में आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रारम्भिक कालावधि में हिन्दी के साहित्यकारों का मानस-स्तर उपर्युक्त वैचारिक एवं अवधारणिक संक्रमण-स्थिति से निर्मित हो रहा था। इसी अनुपात में, बल्कि यों कहें इनकी अपेक्षा अधिक त्वरा से वस्तुगत आवेष्टन भी परिवर्तित हो रहा था। ऐतिहासिक विकास की परिवर्तनशील दिशाएँ सक्रिय थीं। इतिहास स्थैर्य की संज्ञा नहीं सतत् परिवर्तनशीलता का पक्षधर है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऐतिहासिक परिवर्तन में 'ह्रास' नाम की कोई चीज नहीं होती। इतिहास सिर्फ विकास करता है, हर परिवर्तन अपने युग से युगपतिक सम्बन्ध रखता है।

अस्तु, यहाँ अब हम वस्तुगत परिवर्तन की दिशाओं का अध्ययन करेंगे। आधुनिक युग की प्रारम्भिक कालावधि की तीन महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं—

(i) अँगरेजी शिक्षा का प्रसार,

(ii) भारतीय जीवन में यंत्रों का प्रवेश अथवा उद्योगीकरण, और

(iii) पूँजीवाद का प्रवेश।

सर्वप्रथम पूँजीवाद को लेकर चलें, क्योंकि यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। वैसे पूँजीवाद का पूर्ण प्रवेश, भारतीय जीवन में सन् १९३० ई० के बाद ही होता है; परन्तु अँगरेजों की शासनिक एवं व्यापारिक नीति के कारण उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में भारतीय जीवन में अपूर्वाशित अर्थ-व्यवस्था प्रवेश करती है। अब तक भारतीय पूँजी की रीढ़ खेती थी अथवा छोटे-मोटे उद्योग-धन्धे; मध्यकाल में तो खेती ही केन्द्र रही। अर्थात् अठारहवीं शती तक भारतीय अर्थ-व्यवस्था बहुत कुछ कृषिगत ही थी, जिसमें क्षेत्रीय स्वायत्त का महत्त्वपूर्ण स्थान था। सामंती व्यवस्था इसी क्षेत्रीय स्वायत्त की राजनीतिक रूप है।

पूँजीवाद के आगमन के साथ-साथ वर्त्तमान भारत की अर्थ-व्यवस्था तीव्रता से बदलने लगी। पूँजीवाद और उद्योगीकरण युगपतिक ही हैं। भारतीय जीवन मे दोनों युगपतिक व्यवस्थाओं का प्रवेश समान्तरीय रूप में होता है। इनकी संगतियाँ-असंगतियाँ अथवा यह कहें शक्ति एवं सीमाएँ भी एक साथ ही सामने आयीं।

पूँजीवाद व्यक्तिवाद को लेकर आता है। अर्थ के क्षेत्र में यह व्यक्तिवाद पूँजी-केन्द्रन को बल देता है और साहित्य-क्षेत्र में स्वच्छंदतावाद को। इनके कारण है। जनतंत्र ने भारतीय जीवन में एक प्रकार का तीव्र संतरण उपस्थित किया। अर्थ-क्षेत्र का त्वरित संतरण, सामान्य जीवन के मानस-क्षेत्र में एक विशृंखलता (Chaos) लाता है। पुरानी मान्यताएँ, जीवन की स्थिर प्रणाली समाप्त होने लगी। समस्याएँ बढ़ीं। उद्योगीकरण ने नागरिकीकरण को बल दिया। ग्रामीण-व्यवस्था की जड़ता एक साथ तीव्र खिंचाव सह नहीं सकी। परिणामत: प्राचीन अर्थ-व्यवस्था एक-ब-एक टूटने लगती है। इसी समय भारतीय जीवन-पट पर एक नये वर्ग

की आकृतियाँ उभरने लगीं। यह नया वर्ग था मध्यवर्ग, जिसमें भविष्य की महत्त्व-पूर्ण—अपूर्वाशिल संभावनाएँ छिपी थीं।

यह वर्ग मनसः और अर्थतः दोनों दृष्टियों से भारतीय जीवन के लिए अभूतपूर्व था। वस्तुतः आधुनिक साहित्य इसी मध्यवर्ग की तिलमिलाहट की देन है। मानसिक दृष्टि से अत्यंत संवेदनशील और अर्थ-दृष्टि से विपन्न इस वर्ग के अनुभव विविध थे, इसकी दृष्टि अधिक पैनी और गहरी थी। इसके पीछे अँगरेजी शिक्षा का कम महत्त्व नहीं है। अँगरेजी शिक्षा का प्रसार यद्यपि भिन्न दृष्टि से किया गया था—मैकाले के अनुसार नौकरशाही वर्ग की स्थापना के लिए—परन्तु यह स्वीकार करने में कोई व्यवधान नहीं है कि अँगरेजी शिक्षा ने हमारी जागृति की गति को और भी त्वरा दी। वैसे कुछ विचारक ऐसे भी हैं जिनके अनुसार यदि अँगरेज भारत में न आये होते, तो भी यह आर्थिक और सांस्कृतिक क्रान्ति भारत में अवश्य होती। रजनी पाम दत्त ने तो यहाँ तक कहा कि "हमारे देश में व्यवसाय, उद्योग-धन्धे आदि काफी गति से फैल रहे थे, किन्तु अँगरेजों ने उनका नाश करके हमारी सामाजिक और आर्थिक उन्नति में एक भारी व्यवधान पैदा कर दिया। (—India Today.) परन्तु इसमें उतनी सचाई नहीं है। कारण यह कि अँगरेजों के कारण जिस यंत्र-युग का, जिस राजनीतिक चेतना का, जिस ऐक्य का हम अनुभव कर सके, स्वाभाविक गति से क्रान्ति-अनुक्रम में उस स्तर पर आने में हमें एक शताब्दी और लग जाती।

अस्तु, अँगरेजी शिक्षा का महत्त्व भारतीय जागरण में वही है, जो किसी महान् क्रान्ति में, तात्कालिक उपक्रम (Initiation) का होता है। अँगरेजों ने अँगरेजी के माध्यम से हजारों वर्षों के अपने अनुभव-ज्ञान हमारे लिए मुक्त कर दिये। अतः यह निर्णय कर सकना कि हमारी विचारधारा एवं जीवन-पद्धति में भारतीय कितना है और वैदेशिक कितना, उतना ही कठिन है, जितना यह निर्णय करना कि हमारे रक्त में कितना आर्य है और कितना आर्येतर। अतः हम यह स्वीकार करते हैं कि हमारी वर्त्तमान जीवन-पद्धति बहुत कुछ अँगरेजों की देन है।

अँगरेजी शिक्षा ने हमें किन परम्पराओं से परिचित कराया, इसका संक्षिप्त निर्देश हम पूर्व ही कर आये हैं। यहाँ मध्यवर्ग की मनःस्थिति की कुछ चर्चा आवश्यक होगी। जिस सांस्कृतिक पुनर्मूल्यांकन की चर्चा हम पहले कर आये हैं, उसका सूत्र-धार यही मध्यवर्ग है। यह मध्यवर्ग मनसः एवं अर्थतः संघर्षशील है। मानसिक दृष्टि से संस्कार एवं नयी उपलब्धियों का संघर्ष तथा अर्थतः अस्तित्व के लिए संघर्ष से इसका व्यक्तित्व निर्मित है। इस प्रकार के गतिशील वर्गीय चरित्र की अवतारणा भारतीय जीवन में अभूतपूर्व घटना थी। फलतः मध्यवर्ग की ग्रहणशीलता अत्यन्त तीव्र थी। इसने परम्परा को नये ढंग से स्वीकार किया। युग-सत्य भी इसके लिए

प्रभूत आकर्षण रखता था। इस वर्ग ने परम्परा और युग को नयी दृष्टि से देखा मध्यवर्ग की इस वैचारिक स्थिति का विवेचन हम पूर्व ही कर आये हैं।

अब हम पूँजीवाद और उद्योगीकरण से उत्पन्न भारतीय जीवन में विविध परिवर्तनों के स्वरूप देखेंगे। इस सम्बन्ध में हमारे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(i) मध्यकाल की स्थिर अर्थ-व्यवस्था नयी गतिशील अर्थ-व्यवस्था में बदल गयी।

(ii) सामान्य जीवन, जो मध्यकाल में राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से प्रतिक्रियाशून्य था, आधुनिक काल में संवेदनशील बन गया।

(iii) पूँजीवाद ने देश को नयी समस्याएँ एवं नयी वर्ग-व्यवस्था दी। गांव-नगर का अन्तर उभरकर आया। उसी प्रकार किसान, भूमिहीन किसान, श्रमिक और मध्यवर्ग के रूप उभरने लगे। प्रत्येक नगर समृद्धि और 'पॉकेट स्लम्स' का मिलाजुला रूप बन गया।

(iv) मानसिक दृष्टि से एक कसमसाहट, एक तिलमिलाहट और उत्तेजना से वातावरण भर गया।

(v) राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए क्रान्ति के स्वर उभरने लगे। अन्य शब्दो मे जीवन को सक्रियता का नया आभास मिला।

(vi) सारांशत: मध्यकाल का जीवन स्थैर्य, गतिशीलता एवं विविधता मे बदल गया।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य उपर्युक्त परिणामों से प्रभूत प्रभाव ग्रहण करता है। साहित्य में दो महत्त्वपूर्ण परिणाम स्पष्टत: दृष्टिगोचर हुए—गद्य का आविर्भाव और विधा-वैविध्य। साहित्य का नया उत्तरदायित्व कविता के विस्तार से अधिक गुरु था। व्रजभाषा-अवधी-काल की कोमलता और शान्ति, जिसे सूर-तुलसी-बिहारी-रत्नाकर ने अर्जित किया, पूँजीवाद और विज्ञान के कारण परिवर्तित जीवन-स्थिति को अपनी अभिव्यक्ति-सीमा में ले आने में असमर्थ सिद्ध हुई। इसके लिए पुरुष-भाषा की आवश्यकता थी—पुरुष-शैली की आवश्यकता थी। खड़ीबोली ने भाषा का उत्तरदायित्व सँभाला और गद्य-शैली ने शैली के उत्तरदायित्व को। स्थिति स्पष्ट थी। परिवर्तित जीवन-पद्धति की यथार्थता, महाकाव्य की सीमा में अन्तर्भुक्त नहीं हो पाती। महाकाव्य सामंती जीवन की कल्पना और ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति तो कर पाती है, पर श्रम का पौरुष—यथार्थ की कठोरता, महाकाव्य की मुखापेक्षी नहीं, उपन्यास और कहानी की आग्रही है। इन दो विधाओ के लिए पुन: कविता अपर्याप्त थी। फलत: एक ओर विधा-वैविध्य का सूत्रपात होता है; दूसरी ओर गद्य और गद्य-शैली का।

इसे एक अन्य दृष्टि से देखिए। संपूर्ण मध्यकाल में हमारी पूर्ण उपलब्धि इन दिशाओं में रही—

(i) विषय की दृष्टि से भक्ति और शृंगार, तथा

(ii) विधा की दृष्टि से महाकाव्य और मुक्तक।

हम तीन सौ वर्षों तक भक्ति-साहित्य और तत्पश्चात् दो सौ वर्षों तक शृंगार-साहित्य का निर्माण करते आये। इतना दीर्घ वैचारिक स्थैर्य विश्व-साहित्य में शायद अकेली ही घटना होगी। जीवन-पद्धति की निष्क्रियता ही इसका कारण है। मध्यकाल की जड़ीभूत विचारधारा जीवन की जड़ीभूत स्थिति की देन थी। परिणामतः पाँच सौ वर्षों तक न तो दृष्टि बदली और न विधा ही। पर, ठीक इसके विपरीत आधुनिक काल के सौ वर्ष उन हजारों वर्षों की परंपरा को वह रूप देते है, जो कल्पनातीत था। इन सौ वर्षों में साहित्य-क्षेत्र में जितने प्रयोग हुए और हो रहे हैं उतने कभी नहीं हुए। इसका कारण है हमारी बदली हुई जीवन-स्थितियाँ। जीवन की त्वरा और युग-संक्रमण की सक्रियता ने हमें दृष्टि संपुंज दिये तथा जीवन-पद्धति के वैविध्य ने हमें विधा-वैविध्य दिये। आज के साहित्यकार की अनुभूति-क्षमता एवं त्वरा मध्य-कालीन साहित्यकार की क्षमता-त्वरा से कई गुनी अधिक है। धर्माश्रय या राज्या-श्रय में पलने वाला साहित्यकार जीवन को उसकी नग्नता अथवा कटु सचाई में नहीं देख पाता था, परन्तु आज का स्व-आश्रय-प्राप्त साहित्यकार उस नग्नता को, उस सचाई को तीव्रता से ग्रहण करता—अनुभूत एवं स्वीकार करता है। ऐसा इसलिए कि मध्यकालीन साहित्यकार जीवन की यथार्थता की अंगीभूत इकाई नहीं था—वह तो उस अध्यात्म या दरबार की इकाई था—जब कि आधुनिक युग का साहित्यकार जीवन की यथार्थता की अंगीभूत इकाई ही नहीं, उसका भोक्ता भी है। अपने वातावरण के प्रति आज का साहित्यकार तीव्र प्रतिक्रिया रखता है—ऋणात्मक भी और गुणात्मक भी। अपने उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूक आज का साहित्यकार साहित्य के माध्यम से अपनी ही व्याख्या करता है। भारतेन्दु से लेकर अज्ञेय तक की परंपरा इस तीव्र प्रतिक्रिया तथा आत्म-व्याख्या की अभिव्यक्ति है।

पद्य की अपेक्षा गद्य ने आधुनिक युग की जीवन-पद्धति को साग्रह आस्था के साथ स्वीकार किया है। ऐसा इसलिए भी हुआ कि गद्य आधुनिक युग का स्वाभाविक पर्याय बनकर आया था। 'अंधेर नगरी चौपट राजा' से लेकर 'बोरीवली से बोरबन्दर' तक यह साग्रह आस्था देखी जा सकती है। आधुनिक काल में एक विचित्र वर्गीकरण मिलता है कि कविता में व्यक्ति की प्रतिक्रिया को उसके माध्यम से अभिव्यक्ति मिली—भारतेन्दु से लेकर अज्ञेय तक की कविता इसकी गवाह है; दूसरी ओर गद्य में समूह की प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति व्यक्ति (साहित्यकार) के माध्यम से मिली—भारतेन्दु से लेकर प्रेमचंद-शैलेश-रेणु इत्यादि तक का गद्य-साहित्य

इसका गवाह है। परिणामत. कविता का शिल्प भी वह नहीं रह गया जो मध्यकाल तक था या यों कहें कि कुछेक अंशों में भारतेन्दु-मंडल तक था और गद्य तो सर्वथा आधुनिक काल का था ही।

सारांशत: साहित्य-क्षेत्र में जीवन-क्षेत्र की सारी स्थितियाँ किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त हुई। अर्थ-तंत्र की ठेठ प्रतिक्रिया भारतेन्दु में, पूँजीवाद की असंगतियों का अन्तर्मुखी रूप छायावाद और जैनेन्द्र के साहित्य में, जीवन की यथार्थता प्रेमचन्द और प्रगतिवादी काव्यधारा में और इसी प्रकार अन्य स्थितियाँ, अन्य साहित्य-धाराओं में पुंखानुपुंखत. देखी जा सकती हैं। यहाँ प्रत्येक साहित्य-धारा की कारणभूत परिस्थितियों का अध्ययन उद्देश्य नहीं है। अत: निष्कर्षत: आधुनिक गद्य-साहित्य के आविर्भाव की मानसिक एवं भौतिक भूमिकाएँ यही हैं, जिन्होंने आधुनिक हिन्दी-साहित्य को मध्यकाल से पूर्णतः पृथक् कर दिया है। यह पार्थक्य परंपरा-सूत्र के विखंडन की दृष्टि से नहीं, बल्कि नयी व्यवस्था की स्वीकृति की दृष्टि से है। पार्थक्य से हमारा तात्पर्य परंपरा की अस्वीकृति से नहीं है, बल्कि जागरूकता की मात्रा से है, जीवन को ग्रहण कर सकने की सामर्थ्य से है। अत: कारणभूत परिस्थितियों के कारण हम और हमारा साहित्य मध्यकाल से पृथक् अवश्य है, पर परंपरा सुरक्षित है—जीवन-स्थितियों में परिवर्त्तन हो जाने के कारण साहित्य भी बदल गया, उसकी दृष्टि, उसका स्वर बदल गया है।

अध्याय २

हिन्दी गद्य : परंपरा-सूत्र

हिन्दी गद्य का परंपरा-सूत्र निम्नोक्त तीन दिशाओं में अध्येय है—

(क) व्रजभाषा गद्य,

(ख) व्रजभाषा मिश्रित खड़ीबोली का गद्य, और

(ग) खड़ीबोली का गद्य।

हिन्दी गद्य का विकास अचानक या अनायास ही हुआ। पिछले अध्याय में हम देख आये हैं कि इस आविर्भाव की अनिवार्यताएँ क्या थीं। अतः हिन्दी गद्य एक ऐतिहासिक अनिवार्यता था। वैसे सामर्थ्य और विस्तार की दृष्टि से हिन्दी गद्य की वास्तविक उपलब्धि खड़ीबोली-गद्य ही है, परन्तु उसकी परंपरा-पुष्टि के लिए व्रजभाषा-गद्य का सूत्रान्वेषण भी आवश्यक है। इस सूत्रान्वेषण के साथ-साथ हम उनका मूल्यांकन भी करते चलेंगे।

(क) व्रजभाषा-गद्य— इसे पुनः दो खण्डों में बाँटकर देख सकते हैं— साम्प्रदायिक आश्रय में लिखित गद्य तथा टीका-गद्य। साम्प्रदायिक आश्रय में लिखित गद्य के अन्तर्गत विद्वानों के अनुसार एक गोरखपंथी गद्य-ग्रंथ विचारणीय है।[1] इसका रचना काल चौदहवीं शती है। यह हिन्दी गद्य का प्राचीनतम नमूना है—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्दस्वरूप है शरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें शरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मै जु हौं गोरीष सो मछंदरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ। आत्मज्योति निश्चल हैं अंतहकरन जिनके अरु मूलद्वार हैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानैं।"[2]

१. (i) "हिन्दी पुस्तकों की खोज में हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से सम्बन्ध रखने वाले कई गोरखपंथी ग्रंथ मिले हैं जिनका निर्माण-काल सं० १४०७ वि० के आसपास है। ····एक पुस्तक गद्य में भी है····"

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, (८ वाँ संस्करण), पृ० ४०३।

(ii) "हिन्दी पुस्तकों की खोज में चौदहवीं शताब्दी का कहा जानेवाला एक गोरखपंथी गद्य ग्रंथ मिला है, जिसे विद्वानों ने चौदहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना माना है।"

—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-साहित्य (१९५२ संस्करण), पृ० ३६४।

२. आ० शुक्ल के हि० सा० के० इ० से उद्धृत।

आचार्य शुक्ल ने उक्त कथन को 'किसी संस्कृत लेख का कथंभूती' अनुवाद होने की शंका प्रकट की है। जो भी हो वह गद्य का प्राचीनतम नमूना है। जैसे खुसरो की पहेलियों की भाषा बाद की मानी जाती है[१], संभव है वैसे ही उक्त ग्रंथ की भाषा भी बाद में बदल गयी हो। इस संदेह की गुंजायश भी काफी है। इसमें 'पूछिबा, कहिबा' के प्रयोग के आधार पर आचार्य शुक्ल ने इस पर राजस्थानी का प्रभाव माना है और इधर डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संकेत दिया है कि इन्हीं प्रयोगों को देखकर कुछ बंगाली विद्वानों ने अनुमान किया है कि इसकी भाषा पर पूर्वी बंगाल की भाषा का प्रभाव पड़ा है।[२] अतः स्पष्ट ही नाथपंथ के इस ग्रंथ की भाषा पर विभिन्न प्रदेशों की भाषा की छाप है। जो भी हो उक्त नमूने से हिन्दी गद्य की केन्द्रीय भावोन्मुखता का संकेत मिल जाता और उसमें बहुत कुछ सुव्यवस्था और परिनिष्ठा भी है। प्रारम्भ की ही यह परिनिष्ठा सहज विश्वसनीयता प्राप्त नहीं करती।

साम्प्रदायिक आश्रय में लिखे गये गद्य-ग्रन्थों में तीन ग्रंथ और द्रष्टव्य है— श्री वल्लभ के पुत्र श्रीविट्ठल द्वारा लिखित 'शृंगार रस मण्डन', तथा वल्लभ-सम्प्रदाय की दो पुस्तकें— 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता।'

श्री विट्ठल का 'शृंगार रस मण्डन' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, कृष्ण-काव्य में स्वीकृत शृंगार रस के स्वरूप से सम्बन्धित रचना है। भाषा परिमार्जित एव सुव्यवस्थित है—

"प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मन्द हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकंज विषै शृंगार रस श्रेष्ठ रसना किनो सो पूर्ण होत भई।"[३]

इस भाषा में केन्द्राभिमुखता और भी स्पष्ट है। पण्डिताऊपन की छाप और तत्सम शब्दों का प्रयोगाग्रह द्रष्टव्य है। यह महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति थी।

"चौरासी वैष्णवन और दो सौ बावन वैष्णवन" की वार्त्ताएँ, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, वैष्णव कवियों की जीवन-वार्त्ताओं पर संगृहीत ग्रंथ हैं। कुछेक आलोचकों ने यहीं से हिन्दी कहानी का विकास स्वीकारने का आग्रह व्यक्त किया है। इसका विवेचन हमने 'हिन्दी कहानी' शीर्षक अध्याय में किया है। यहाँ इतना ही कह देना अलम् होगा कि ये वार्त्ताएँ कथा या आख्यायिका नहीं, बल्कि वैष्णव कवियों की

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी-भाषा का इतिहास।
२. हिन्दी-साहित्य, पृ० ३६४।
३. आचार्य शुक्ल के हि० सा० के इतिहास से उद्धृत।

सम्प्रदायोपयोगी जीवन-घटनाओं की चर्चा-अनुचर्चा है। इनका महत्त्व पौराणिक कथाओं जैसा भी नहीं है।

अस्तु, इन वार्त्ताओं की भाषा बोलचाल की भाषा प्रतीत होती है। इसमें साहित्यिक परिनिष्ठा का प्रश्न ही नहीं उठता। इनका रचनाकाल सत्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। तद्युगीन बोलचाल की भाषा के दो रूप थे— केन्द्राभिमुख अथवा तत्सम-तद्भव युक्त देशज शब्दों के प्रयोग तथा अरबी-फारसी-देशज का रूप। इन वार्त्ताओं की भाषा में ये दोनों रूप उपलब्ध हैं। ऐसा इसलिए भी हुआ कि सत्रहवीं शती तक मुसलमानों के जम जाने से उनकी भाषा एवं संस्कृति भारतीय भाषा एवं संस्कृति में घुलमिल गयी थी। एक उदाहरण—

"सो श्री नन्दगाम में रहतो सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। ....सो एक दिन श्री महाप्रभुजी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो। सो खण्डन करन लागो। वैष्णवन ने कही "जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा, हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नहीं।"[1]

विदेशी शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से नाभादास के 'अष्टयाम' से एक उदाहरण — "फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठते भए।[2]

प्रथम उदाहरण में तत्सम-तद्भव-देशज-शैली और दूसरे में फारसी-तत्सम-तद्भव-देशज-शैली का रूप द्रष्टव्य है। शैली और भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से ब्रजभाषा का सहज माधुर्य यहाँ उपलब्ध है। लघु वाक्यों में उनका कथ्य स्पष्ट है। इससे यह स्पष्ट है कि वार्त्ताकारों में बोलचाल की भाषा के साहित्यिक रूप-परिवर्त्तन की सामर्थ्य मौजूद थी और वे उन सभी प्रचलित शब्दों को स्वीकारने के पक्ष में थे जो तत्युगीन भाषा की निजी सम्पत्ति बन गये थे। यह गद्य-शैली में सामर्थ्य-अर्जन का प्रयास था।

टीका-गद्य गद्य-शैली की परवर्त्ती धारा है—रीतिकालीन धारा है। इसके पूर्व भी ब्रजभाषा-गद्य में कुछ स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध हैं। सूरति मिश्र की बैताल पचीसी-(सन् १७१० ई०), लाला हीरालाल का 'आईन अकबरी की भाषा वचनिका' (सन् १७९५ ई०), डाकौर के प्रियादास की 'सेवक चंद्रिका' (सन् १७७९ ई०)' लल्लू लाल जी की 'राजनीति का अनुवाद' (सन् १८०९ ई०) इत्यादि उल्लेख्य हैं। इन ग्रंथों मे भाषा-विकास की दृष्टि से कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो, बात ऐसी नहीं है।

---

१. आचार्य शुक्ल के हि० सा० के इतिहास से उद्धृत।
२. वही।

टीका ग्रंथों में हरिचरनदास की बिहारी सतसई की टीका (सन् १७७७ ई०), 'कविप्रिया' की टीका (सन् १७७८ ई०), प्रताप साहि की मतिराम के 'रसराज' की टीका (सन् १८३९ ई०), 'बिहारी सतसई' की अनेक टीकाएँ, 'रामचरित मानस' के बालकाड की 'रामानंदलहरी' नामक टीका (सं० १८०८ ई०), कृष्णदत्त कवि की 'विहारी सतसई' की टीका (सन् १८८० ई०) इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त टीकाओं दो धाराएँ स्पष्ट हैं—एक रीतिग्रंथों की टीकाएँ और दूसरे अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की टीका। रीतिकाल के प्रताप साहि, रसिक गोविन्द आदि ने निजी रचनाओं को स्पष्ट करने के लिए ब्रजभाषा-गद्य में टीकाएँ की हैं। उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि अन्य महत्त्वपूर्ण रीतिग्रंथों पर भी टीकाएँ लिखी गयीं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

कविप्रिया की टीका—"मैन नाम मोम सो है मन जा नायका को मृदुल कोमल मृणाल का नाम कमल की जर ताके सूत कैसो स्वर ध्वनिकंठ को मन को हरत है। (प्रश्न) इहाँ शब्द मृणाल कासों काहू नाहीं बर्णो अस मृणाल का मे शब्द कहाँ (उत्तर) सुर कहिए कंठ के भीतर की राह सूत ऐसी महीन ध्वनि शब्द सो मन को हरि लेत दारो अनार के बीज से दाँत की पाँत से अरुण हैं ओठ अरु दृगन को देखत ही आनंद भर जात एरी सखी मेरी तोकों भलाई भावत है यातें मैं बूझति हों आन बूझत में डर मानत है माखन सदृश जीभ मुख कमल सो कोमिल बातें काठ ऐसे कठोठी बात कैसे निकरति है।"[1]

शैली प्रश्नोत्तर की है, जिसे कुछ हद तक विवेचन का प्रयास मान सकते हैं। किन्तु अब तक विरामादि चिह्नों का विकास नहीं हुआ था। सरदार कवि ने खड़ीबोली वाला रूप भी नहीं कहीं दिया है—

"कुच, भुज-मूल, मणि, जवाहरादि बज्र, धातु लोहादि, हाड़ अस्ति, हीरा हृदय, अरु विरही जनको चित्त कहूँ वज्रहल भी पाठ है तहाँ भी वही अर्थ जान लीजिए।[2]

कृष्णदत्त कवि की बिहारी सतसई की टीका— यह मंगलाचरण हैं तहाँ ग्रन्थकर्त्ता कवि श्री राधिका जी की स्तुति करता है राधा और इहै यातें जातन की झाईं परैं श्याम हरित दुति होय या पदतें वृषभानु सुता की प्रतीति भई।

इन रीतिग्रंथों की टीकाओं से मूल ग्रंथ प्रायः उतना स्पष्ट नहीं हो पाता था। अर्थात्, गद्य में स्पष्ट करने की शक्ति नहीं थी। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने यह सम्मति दी कि वार्ताओं की भाषा वाला सुव्यवस्थित रूप भी यहाँ उपलब्ध नहीं है।[3] स्पष्ट ही भाषा में प्रगति-चिह्न नहीं मिलते।

---

१. सरदार कवि की टीका, कविप्रिया, ६-२०।

२. वही।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४०६।

परन्तु इधर एक पुस्तक प्राप्त हुई—श्री रामानन्द लहरी ।[1] इसके अवगाह से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ब्रजभाषा-गद्य में सामर्थ्य का अभाव नहीं अपितु प्रयोग का अभाव था। उक्त पुस्तक भाषा-प्रगति का निश्चित चरण चिह्न छोड़ती है— वार्त्ता-गद्य की अपेक्षा यहाँ सुव्यवस्थित एवं परिमार्जित भाषा है। शैली भी तर्क-प्रधान और विचारपूर्ण है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"जो कोई कहे की भाषा को पुनि भाषा तिलक करना पीसने को का पीसना।। तहाँ दृष्टांतालंकार करिकै समाधान करते है सतजुग मे सुवर्ण के पात्र मे सब कोई जल भरे त्रेता मे रूपे के पात्र मे द्वापर मे ताम्र के पात्र मे कलिजुग में मृतिका के पात्र मे जल भरा जात है परि देखिये तो चारिहूँ जुग में जल एक ही है परि पात्र भेद है परि जैसो मृतिका के पात्र मे जल सीतलता स्वाद मधुरता ल्यावत है जैसो अपर पात्र मे नही होत है। परि तातपर्ज जल ही को है जो कोई कहे कि मृतिका के पात्र जो कोई नीच छुवै तब असुद्ध ह्वै जात है। तहाँ वेद बाक्य है की जेहि मृतिका के पात्र मे श्री सरजू जल गंगाजल घृतादिक गोरस उत्तम पदार्थ भरा जात है सो सर्वकाल मे पवित्र है सर्व आश्रम मे अत्यज मे सर्व अस्थान मे पवित्र है श्रुति स्मृति कहे हैं।"

उपर्युक्त गद्य-शैली में विचारों को वहन करने की शक्ति है। केन्द्राभिमुख भाषा के साथ-साथ यत्र-तत्र खड़ीबोली के रूप भी विद्यमान हैं। संस्कृत की खंडन-मंडन-शैली यहाँ देखी जा सकती है। निश्चय ही यह रचना वार्त्ता की भाषा-शैली से बहुत आगे है। अतः आचार्य शुक्ल का यह निष्कर्ष पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता कि "······ब्रजभाषा-गद्य की कुछ पुस्तकें इधर-उधर पायी जाती हैं जिनसे गद्य का कोई विकास प्रकट नहीं होता।"[2] यह भाषा-शैली संभवतः बोलचाल की नहीं होगी। और, तब यह एक स्वाभाविक निष्कर्ष होगा कि ब्रजभाषा-गद्य बोल-चाल के गद्य से पृथक् एक साहित्यिक रूप भी ग्रहण कर रहा था। कालान्तर मे इसका सम्यक् विकास नहीं हो पाया या यह भी संभव है कि खड़ीबोली-गद्य के उद्भव से उपर्युक्त गद्य-शैली गौण पड़ गयी।

जो भी हो इतना स्पष्ट है कि ब्रजभाषा-गद्य, ब्रजभाषा-पद्य की परिनिष्ठा और व्यापकता अर्जित नहीं कर पाया। इस गद्य का कोई सुनिश्चित साहित्य-रूप स्वीकृत नहीं हो पाया, जब कि ब्रजभाषा-पद्य आधुनिक हिन्दी कविता को बहुत दूर तक प्रभावित कर पाया है। अतः ब्रजभाषा की गद्य-शैली छिटफुट प्रयोगों तक ही सीमित थी, उसका कोई व्यापक रूप नहीं बन पाया, यह स्पष्ट है। फिर भी हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से एक सुनिश्चित महत्वपूर्ण प्रवृत्ति का ज्ञान अवश्य होता है।

---

१. इस पुस्तक की हस्तलिखित प्रति निजी संग्रह में उपलब्ध है। —लेखक

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४०६।

(ख) **ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ीबोली का गद्य**— इस सम्बन्ध में कालावधि-सम्बन्धी कोई निश्चित सीमा नहीं बतलायी जा सकती, क्योंकि गद्य-शैली के विविध रूप और प्रयोग कालानुक्रम से नहीं किये गये थे—वह तो बहुत कुछ लेखकों की निजी सामर्थ्य पर ही निर्भर थे। इसीलिए पूर्ववर्त्ती भाषा-रूप में खड़ीबोली का पुट और परवर्त्ती भाषा-रूप में ब्रजभाषा का पुट, आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए।

इस वर्ग की गद्य-शैली वाले ग्रंथों में गंग का 'चंद छंद बरनन की महिमा' (सन् १५८० ई०), पण्डित दौलतराम का हरिषेणाचार्य कृत 'जैन पद्मपुराण' का अनुवाद (सन् १७६१ ई०), लल्लू लाल (सन् १७६३-१८२५ ई०) का 'प्रेमसागर' इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं।

इन ग्रंथों में ब्रजभाषा के साथ-साथ खड़ीबोली के प्रयोग भी मिल जाते है। इनमें खड़ीबोली का विकास देखा जा सकता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

"इतना सुनके पातसाहिजी श्री अकबर साहिजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।"[१] —चंद छंद बरनन की महिमा

"जंबू द्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै हैं और भूमि विषै साँठेन के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।"

—'जैन पद्मपुराण' का अनुवाद

"राजा कंस अपनी सभा में आय बैठा और जितने दैत्य उसके थे तिन को बुलाकर कहा सुनो सब देवता पृथ्वी में जन्म ले आये हैं तिन्हीं में कृष्ण भी अवतार लेगा यह भेद मुझ से नारद मुनि समझाय के कह गये हैं इससे अब उचित यही है कि तुम जाकर सब यदुवंशियों का ऐसा नाश करो जो एक भी जीता न बचे।"—प्रेमसागर

उपर्युक्त उद्धरणों में भाषा-शैली की दृष्टि से खड़ीबोली की ही प्रधानता है, परन्तु ब्रजभाषा भी सिर उठा लेती है। फिर भी शुद्ध ब्रजभाषा-गद्य की अपेक्षा ये शैलियाँ अधिक परिष्कृत और अपेक्षाकृत खड़ीबोली के निकट हैं। उपर्युक्त उद्धरणों के कालानुक्रम से एक बात स्पष्ट है कि खड़ीबोली का विकास-सूत्र सोलहवीं शती तक गहरा चला जाता है (वैसे इसे खुसरो तक भी खींचा जा सकता है), जब कि ब्रज-भाषा भी उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध तक चली आती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन सुदीर्घ वर्षों के मध्य खड़ीबोली धीरे-धीरे सामर्थ्य अर्जित करती है, साथ ही धीरे-धीरे उसकी उपयोगिता और स्पष्ट होती जाती है।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ४१०।

समासतः इस वर्ग के ग्रंथों को हम ब्रजभाषा-गद्य और खड़ीबोली गद्य की मध्यम कड़ी मान सकते हैं, जहाँ खड़ीबोली भावी संभावनाओं के साथ उभर रही थी।

(ग) **शुद्ध खड़ीबोली का गद्य**— इस प्रकार सैंकड़ों वर्षों की ऐतिहासिक सरणि से गुजरती हुई खड़ीबोली आगे बढ़ती है। शुद्ध खड़ीबोली का रूप पुन सन् १७४१ ई० से प्राप्त होता है—रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषा योगवाशिष्ठ'। निरंजनी की भाषा आचार्य शुक्ल के अनुसार 'शृंखलाबद्ध और व्यवस्थित' है। इसका विवेचन हम कुछ बाद में करेंगे। यहाँ कुछ आन्दोलनों का मूल्यांकन हम करेंगे।

फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष डॉ० गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से लल्लू लाल, सदल मिश्र की रचनाएँ तथा सदासुख लाल और इंशाल्ला खाँ की रचनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। परन्तु, इनको आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता है। फोर्ट विलियम कालेज की कार्यवाहियों का विवेचन करने पर डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उक्त संस्था का हिन्दी के प्रति दृष्टि-कोण बहुत स्वस्थ नहीं था। यह इस बात से भी सिद्ध है कि सदल मिश्र लिखित शुद्ध हिन्दी की रचनाएँ फोर्ट विलियम कालेज में स्वीकृत नहीं हुईं। अतः यह स्पष्ट है कि फोर्ट विलियम कालेज का महत्त्व सिर्फ तात्कालिक है। डॉ० गिलक्राइस्ट की प्रेरणा ने हिन्दी गद्य को कोई विशेष गति नहीं दी। डॉ० शिवदान सिंह चौहान का मूल्यांकन उचित ही है कि रामप्रसाद निरंजनी, सदासुख लाल, इंशा, मथुरादास के हिन्दी अनुवादों ने या फोर्ट विलियम कालेज ने हिन्दी गद्य और साहित्य के विकास मे जो योग और प्रोत्साहन दिया, वह उन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों की तुलना में नगण्य है, जिनकी आवश्यकताओं से राष्ट्रीय जागरण की लहर फैली और उन देशव्यापी सुधार-आन्दोलनों का जन्म हुआ जिन्होंने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर देश की राजनीतिक एकता की नींव दृढ़ करने के लिए उर्दू के साथ-साथ, और अधिकतर उसकी अपेक्षा में, हिन्दी को ही प्रचार और साहित्य-रचना का माध्यम चुना।"[१] सामाजिक-सांस्कृतिक जागृति की इस भूमिका की चर्चा हम पूर्व ही, प्रथम अध्याय में कर आये हैं।

इस क्षेत्र में ईसाई-धर्म-प्रचारकों तथा आर्यसमाज के उपदेशकों का काफी महत्त्व है। ईसाई पादरी डॉ० विलियम कैरे सन् १७९३ ई० में भारत आये। पहले वे मालाबार में एक गिरिजाघर स्थापित करके गाँव-गाँव में ईसाई-धर्म का प्रचार करने लगे। ईस्ट इंडिया कं० द्वारा व्यवधान मिलने के कारण वे बंगाल चले आये और

---

१. हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष, प्रथम संस्करण, पृ० १७।

वही सिरामपुर से उन्होंने २७ भाषाओं में इंजिल का अनुवाद कराया। उन्होंने इंजिल का परिमार्जित, संस्कृतनिष्ट हिन्दी में स्वयं अनुवाद किया, जिसका प्रकाशन सन् १८१९ ई० में हुआ। यह भाषा जनसाधारण की भाषा थी। यों अँगरेजी राज्य के प्रारंभ में सरकारी भाषा फारसी ही रही, परन्तु जनसाधारण से उसका सम्बन्ध अत्यल्प ही रहा। बुद्धिजीवी वर्ग के वैसे लोग जिनका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में अँगरेजी सरकार से था, फारसी-अँगरेजी की शिक्षा, प्रायः एक साथ ग्रहण करते थे। इस वर्ग में जमीन्दार और उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोग प्रमुख थे।

इसी समय अँगरेजों की नीति ने हिन्दी-उर्दू का प्रश्न उठा दिया, जो हिन्दू-मुसलमानों में विद्वेष फैलाने के लिए काफी हद तक जिम्मेदार रही। ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने अपने धर्म-प्रचारों के माध्यम से जिस ऐक्य का बीजवपन किया था अँगरेजी सरकार ने उसे धर्म के आधार पर विभाजित कर दिया, जिसकी चरम परिणति पाकिस्तान के निर्माण के रूप में हुई।

फिर भी हिन्दी का आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। प्रारंभ के विकास में हिन्दी और उर्दू का पृथक् रूप निश्चित नहीं हुआ था और न कोई वैसा प्रश्न ही उठा था। दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली भाषा व्यावसायिक विकास के साथ-साथ दूर-दूर तक विस्तार पाने लगी थी। इसी समय राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' (सन् १८२९-९५ ई०) और राजा लक्ष्मण सिंह (सन् १८२६-९६ ई०) का ऐतिहासिक संघर्ष प्रारंभ होता है। 'सितारे हिंद' ने फारसी-मिश्रण का पक्ष इसलिए लिया कि हिन्दू जनता उक्त भाषा को सीखकर सरकारी ओहदे प्राप्त कर सकें, परन्तु राजा लक्ष्मण सिंह विशुद्धावादी थे। राजा लक्ष्मण सिंह हिन्दी और उर्दू को पृथक् भाषाएँ मानते थे और 'योगवाशिष्ठ' और 'प्रेमसागर' की भाषा को आदर्श मानते रहे। इन दो राजाओं के संघर्ष में सचाई चाहे जितनी रही हो, इतना स्पष्ट है कि हिन्दी और उर्दू को पृथक् शैलियों के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

यहाँ तक हिन्दी गद्य-शैली की स्पष्टतः दो धाराएँ चल रही थीं— अरबी-फारसी-मिश्रित गद्य-शैली और परिनिष्ठित, संस्कृतनिष्ठ गद्य-शैली। यहीं गद्य-शैली की एक धारा और भी काम कर रही थी—लोकधारा। इस लोकधारा को धर्म-प्रचारक-संस्थाओं तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण से बल मिला। ईसाई मिशनरियो की प्रचार-भाषा, ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज की प्रचार-भाषा इसी वर्ग में आती है। ऐसा इसलिए हुआ कि इनकी दृष्टि जनसाधारण तक पहुँचने की थी और इसके लिए इन्होंने जनसाधारण की भाषा का आश्रय ग्रहण किया। विशेषतः दयानन्द सरस्वती का 'सत्यार्थ प्रकाश' विषय की दृष्टि से दुरूह होते हुए भी भाषा-शैली की दृष्टि से जनभाषा के निकट है।

इसी समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आविर्भाव होता है। भारतेन्दु फारसी-संस्कृत, दोनों के ज्ञाता थे। परन्तु उन्होंने अपने गुरु राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' का विरोध करते हुए शुद्ध हिन्दी का पक्ष लिया। यहाँ से हिन्दी गद्य का रूप सुनिश्चित होने लगा। भारतेन्दु-मंडल के लेखक, बल्कि स्वयं भारतेन्दु भी प्रौढ़ गद्य-शैली के निर्माता नहीं बन सके। वहाँ तक भी हिन्दी गद्य प्रयोग की स्थिति में ही था। जन-जागरण ने खड़ीबोली-गद्य को स्वीकार कर लिया था, पर साहित्यिक रूप अभी परिमार्जित नहीं हो सका था। समस्त भारतेन्दु-मंडल इसी परिमार्जन और प्रयोग में खप गया।

संक्षेप में, हिन्दी गद्य का परंपरा-सूत्र यहीं समाप्त होता है, क्योंकि यहाँ के बाद परंपरा सूत्रमात्र नहीं रह गयी, बल्कि एक व्यापक विकसनशील धारा बन गयी।

अध्याय ३

गद्य-शैली : वर्गीकरण तथा उनके आधार

गद्य-शैली के विविध रूपों के सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय में ही संकेत दे आये हैं। उन विवेचनों से यह स्पष्ट है कि हिन्दी गद्य-शैली के विकास में व्यक्ति-विशेष या संस्था का विशेष का महत्त्व नहीं, प्रत्युत जन-जागरण के संदर्भ में विकास, पुनरुत्थान एवं पुनर्मूल्यांकन की भूमिकाओं का महत्त्व है। भाषा का निर्माण व्यक्ति नहीं, समूह-चेतना करती है। भाषा जन-विकास की अर्जित संपत्ति होती है—लोक की महत्तम सांस्कृतिक उपलब्धि। साहित्य-क्षेत्र में जन-भाषा के विविध संस्कार किये जाते हैं—पौरोहित्य प्रतिभासंपन्न साहित्यकार का उत्तरदायित्व होता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जन-भाषा और साहित्य-भाषा में परिनिष्ठा की दृष्टि से अनिवार्य अन्तर होता है। हिन्दी गद्य के संदर्भ में भी यह अन्तर द्रष्टव्य है। वैसे, जन-भाषा के प्रभाव से साहित्य-भाषा मुक्त नहीं होती—आपतत वह भी तो जन-भाषा का ही प्रतिफलन होती है।

साहित्य-भाषा को प्रभावित करने वाले अन्य स्रोतों में दो और उल्लेखनीय है—प्राचीन श्रेण्य साहित्य (Classical literature) की भाषा एवं शासकीय भाषा। पहले का सम्बन्ध परंपरा की प्रभाव-स्वीकृति से है और दूसरे का अर्थकरी भाषा के आपेक्षिक महत्त्व से। हिन्दी गद्य के लिए भी इन दो स्रोतों का परीक्षण आवश्यक होगा।

हिन्दी-भाषा के लिए प्राचीन श्रेण्य साहित्य के रूप में संस्कृत आती है। विद्वानों के अनुसार संस्कृत भाषा भारतीय संस्कृति के लिए 'रिक्थ' बन चुकी है। संस्कृतोन्मुखी भाषा के लिए ही डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'केन्द्राभिमुख भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। चूँकि भारतीय दर्शन, अध्यात्म एवं प्राचीन सामाजिक-सांस्कृतिक रूपों को संस्कृत भाषा ही सुरक्षित रख पायी है, फलतः भारतीय भाषाओं का विशेषतः हिन्दी का—जिसे संस्कृत की विरासत प्रचुरतः मिल पायी है, झुकाव स्वाभाविक ही है। हिन्दी कविता के क्षेत्र में यह केन्द्राभिमुखता शायद ही कहीं छूट पायी हो। वैसे ही हिन्दी गद्य—चाहे वह ब्रजभाषा का अविकसित गद्य हो या खड़ीबोली का विकसित गद्य, के विकास-क्रम में भी यह स्वाभाविक था कि यह संस्कृत की ओर उन्मुख होती। पिछले अध्याय में उद्धृत अंशों से यह तथ्य पुष्ट होता है। अतः संस्कृतनिष्ठ गद्य में एक प्रकार का आभिजात्य तत्त्व वर्त्तमान है।

यह आभिजात्य तत्त्व हिन्दी के महाकाव्यों में खूब पनपा। गद्य-क्षेत्र में भी भाषा-प्रयोग और शैली-विनियोग में ये तत्त्व बहुत अंशों तक सुरक्षित रहे।

शासकीय भाषा के रूप में फारसी भाषा विचारणीय है। इस्लाम के आक्रमण के साथ-साथ फारसी भी भारतीय जीवन में प्रवेश पाती है। इस्लाम और फ़ारसी—दोनों का प्रवेश भारतीय जीवन में प्रायः समानान्तरीय होता है। इसके साथ ही मुसलमानों का दर्शन, प्रेम-पद्धति, औपचारिकता, उनका रहन-सहन, आचार-व्यवहार सभी भारतीय जीवन में प्रवेश पाने लगे। मुगलों के अभाव होने तक फारसी एक निश्चित स्थान प्राप्त कर चुकी थी। शासकीय भाषा होने के कारण आभिजात्य वर्गों की इस ओर रुचि स्वभावतया जागृत होती है, वे निष्ठापूर्वक इसे सीखते हैं। इस्लाम धर्म के प्रचार के साथ फारसी जनसाधारण में प्रवेश पाने लगी। इस प्रकार उन्नीसवीं शती तक फारसी का प्रभाव काफी व्यापक हो गया था। अन्ततः भारत में संस्कृत-फारसी के आधार पर हिन्दी-उर्दू के रूप में दो पृथक् भाषाएँ स्वीकृत हुईं।

फारसी की अपनी एक विशिष्ट शैली है। यह विशिष्टता उसकी जातीय विशेषता है। एक खास अंदाज, एक विशेष लहजा और एक विशिष्ट नज़ाकत से युक्त फारसी का प्रभाव दरबारी सभ्यता के माध्यम से क्षेत्रीय सामंती जीवन पर पड़ता है और फिर अनुकरण-वृत्ति के कारण इसका विस्तार सामान्य जीवन में भी होता है। दूसरी ओर, मुसलमानों का रहन-सहन, आचार-व्यवहार, समासतः उनकी सभ्यता-संस्कृति भारत के सामान्य जीवन में प्रवेश पाती है। यह प्रक्रिया हिन्दी-साहित्य के उदयकाल से ही प्रारम्भ हो गयी थी। मुगलों के राज्यकाल में दोनों संस्कृतियाँ बहुत कुछ घुलमिल गयी थीं। परिणामतः सांस्कृतिक प्रभाव के साथ-साथ भाषाई प्रभाव भी पड़ा। यह प्रभाव दोनों क्षेत्रों में देखा जा सकता है—साहित्य-क्षेत्र और जन-क्षेत्र। साहित्य-क्षेत्र में तो 'पृथ्वीराजरासो' से ही यह प्रभाव देखा जा सकता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बोलचाल की भाषा में फारसी अंदाज का प्रवेश और भी पूर्व हो चुका होगा। फलतः हिन्दी-फारसी के मेल से एक विशिष्ट शैली का जन्म होता है, जिसमें फारसी भाषा-पद्धति तथा मुसलमानों के रहन-सहन और उनके लहजे को बहुत दूर तक देखा जा सकता है। जायसी, बिहारी, मतिराम, भारतेन्दु प्रभृति कवियों में ये पद्धतियाँ देखी जा सकती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा को प्रभावित करने वाले तीन स्रोत थे—लोक, श्रेण्य एवं सामंती। गद्य-शैली भी आपततः इनसे प्रेरणा ग्रहण करती है। इस प्रकार शैली की दृष्टि से हिन्दी गद्य की तीन धाराएँ हैं—

(क) लोक-धारा,

(ख) परिनिष्ठित अथवा श्रेण्य धारा या आभिजात्य धारा, और

(ग) सामंती धारा ।

इन तीनों धाराओं के अपने विशिष्ट लक्षण हैं, ऐतिहासिक कारण हैं तथा परंपरा है। इनमें ऐतिहासिक कारणों का संक्षिप्त निर्देश हम पूर्व ही कर आये हैं। आगे हम इन धाराओं का विश्लेषण करेंगे।

(क) **लोक-धारा**— वैसे बोलचाल की भाषा और साहित्य-भाषा में पर्याप्त अन्तर होता है—यह अन्तर विशेषतः मूल्यांकन-साहित्य अथवा अन्य शास्त्रों से सम्बन्धित साहित्य में देखा जा सकता है। परन्तु रचनात्मक साहित्य में लोक-धारा की भाषा-शैली बहुत अंशों तक सुरक्षित रहती है। ऐसा इसलिए कि रचनात्मक साहित्य लोक-जीवन के प्रायः निकट रहता है।

अतः लोक-धारा की शैली का सर्वप्रधान लक्षण है भाषा की दृष्टि से बोल-चाल की भाषा से निकटता। इस निकटता में मात्रा की दृष्टि से अन्तर हो सकता है—कहीं निकटता अधिक होती है, कहीं कम। इसके अन्य लक्षण इस प्रकार होंगे —सामान्य जीवन में सर्व प्रचलित शब्दों के प्रयोग, काव्य-अप्रस्तुतों का लोक-जीवन से चुनाव, बोलचाल के लहजे का प्रयोग, तद्भव और देशज शब्दों का बाहुल्य, लोक-जीवन से विषय का चुनाव तथा उसी की भाषा द्वारा विश्वसनीय वातावरण का निर्माण, भाषा-संस्कार का अभाव। इन लक्षणों को कविता और गद्य दोनों क्षेत्रों में देखा जा सकता है।

जायसी की अवधी, तुलसी की अवधी की अपेक्षा लोक-जीवन के अधिक निकट है; वैसे ही सूर की ब्रजभाषा बिहारी-घनानन्द की ब्रजभाषा की अपेक्षा लोक-धारा का अधिक प्रतिनिधित्व करती है। कबीर बहुत दूर तक लोक-धारा-शैली के कवि हैं। आल्हा-खंड पूर्णतया इसी परंपरा का काव्य है। उसी प्रकार आधुनिक काल में भारतेन्दु की कुछ रचनाएँ, निराला-काव्य के कुछ अंश, बच्चन के लोक-धुनों पर आधारित नये प्रयोग, नागार्जुन का अधिकांश काव्य इत्यादि लोक-धारा के निकट हैं। वैसे ही, गद्य-क्षेत्र में वार्त्ताओं की ब्रजभाषा, भारतेन्दु की 'अंधेर नगरी चौपट राजा' की भाषा, हरिऔध के ठेठ हिन्दी के प्रयोग, प्रेमचन्द-साहित्य, फणीश्वरनाथ रेणु, उदय-शंकर भट्ट, शैलेश मटियानी तथा कमलेश्वर इत्यादि के प्रयोग लोक-धारा के निकट हैं। इनकी रचनाओं की भाषा-शैली, लहजा और वातावरण की विश्वसनीयता इसी धारा की देन है। अतः प्रारम्भ से लेकर आज तक हिन्दी-गद्य-क्षेत्र में जन-भाषा एवं शैली की साहित्य-स्वीकृति का इतिहास सुस्पष्ट देखा जा सकता है।

यहाँ एक भ्रम का निवारण कर देना आवश्यक है। लोक-धारा-शैली से हमारा तात्पर्य लोक-भाषा कदापि नहीं है। लोक-भाषा-शैली की एक अपनी पृथक् इयत्ता होती है—विविध क्षेत्रीय बोलियों तथा भाषाओं का अपना एक पृथक् साहित्य है। जैसे मगही, भोजपुरी, मैथिली अथवा इसी प्रकार बघेली, छत्तीसगढ़ी इत्यादि

लोक-शैलियों का पृथक् स्थान है। कुछ स्थानों पर अपने विशिष्ट इतर भाषा (slangs, हैं, जैसे बम्बई के मछुओं की बोली, जिन पर आधारित लोक-गीत या लोक-साहित्य का निर्माण हो सकता है—होता है—जैसे बिहार की नगपुरिया अथवा उराँव आदि लोक-भाषाओं का पृथक् लोक-साहित्य है। अतः यहाँ यह ध्यातव्य है कि लोक-धारा-शैली के हिन्दी गद्य से हमारा तात्पर्य उस लोक-साहित्य से नहीं है। यहाँ हमारा विवेच्य भिन्न है—लोक-भाषा-शैली की, उसके असंस्कृत अथवा अर्द्धसंस्कृत भाषा-रूपों की आभिजात्य साहित्य में स्वीकृति। उदाहरणार्थ, रेणु का 'मैला आँचल' अथवा अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र' अपनी क्षेत्रीय अथवा स्थानिक भाषाओं को अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करते हुए भी लोक-साहित्य में परिगण्य नहीं हैं। उनका भाषा-रूप ही सिर्फ क्षेत्रीय अथवा स्थानिक तत्त्वों से प्रभावित है। 'मैला आँचल' में क्षेत्रीय भाषा का प्रकृत अथवा असंस्कृत रूप स्वीकृत है तो 'बूँद और समुद्र' में स्थानिक भाषा का अर्द्धसंस्कृत रूप। स्पष्ट ही इस प्रकार के भाषा-रूपों को स्वीकार करने वाले ग्रंथ साहित्य के आभिजात्य को लोक-भूमि पर ले जाते हैं। अतः हमारा विवेच्य एक ओर न तो लोक-साहित्य है, दूसरी ओर न तो भाषा-शैली की दृष्टि से श्रेण्य ही। दृष्टिकोण की इस सीमा को ध्यान में रखना है।

(ख) परिनिष्ठित अथवा श्रेण्य धारा— सामान्यतः साहित्य-भाषा जन-भाषा की परिष्कृति है। साहित्य, विशेषतः मूल्यांकन का साहित्य, परिनिष्ठित भाषा में लिखित है—यह भाषा का प्रतिमिति रूप है। संभव है यह भाषा जन-भाषा से इतनी दूर चली जाय कि लोक-प्रयोग से पूर्णतया लुप्त भी हो जाय—जैसे संस्कृत आज हो गयी है। वैदिक संस्कृत उस युग की दैनिक व्यवहार वाली भाषा रही होगी और संभव है संस्कृत का वर्त्तमान रूप भी किसी समय सामान्य बोलचाल की भाषा रही हो—इसके प्रमाण अलभ्य नहीं हैं। परन्तु कालिदास के समय से ही साहित्य-भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न होने लगी थी—'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' ही इसका प्रमाण है। बाद में दण्डी, राजशेखर प्रभृति आचार्यों ने संस्कृत के साथ-साथ जन-भाषा के रूप में प्राकृत-अपभ्रंश का निर्देश भी किया है। अतः स्पष्ट ही जन-भाषा जब सामर्थ्यवान् होने लगती है, साहित्य-भाषा का जन्म होता है। पश्चात् दोनों कुछ समय तक साथ चलते हैं और कालान्तर में साहित्य-भाषा भिन्न होने लगती है—फिर रूढ़ और तब मृत; और तब लोक-भाषा फिर नयी साहित्य-भाषा का निर्माण करती है—जन-भाषा और साहित्य-भाषा के इतिहास में यही क्रम-अनुक्रम चलता रहता है। हिन्दी अपवाद नहीं है।

अपभ्रंश का साहित्य-भाषा-रूप स्वीकृत हो जाने पर जन-भाषा के अन्य रूप सामने आते हैं। इसी समय एक विचित्र प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगती है। यह प्रवृत्ति थी केन्द्राभिमुखता की। संस्कृत चूँकि युगों तक प्रधान भाषा रही थी,

इसलिए जन-भाषा बिना उसका आश्रय लिये आगे नहीं बढ़ पाती थी। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में ही मैथिल कवि ज्योतिरीश्वर के 'वर्ण रत्नाकर' के गद्यांशों में यह केन्द्राभिमुखता देखी जा सकती है। विद्यापति की 'कीर्तिलता' का गद्य भी शब्दों के तत्सम रूपों के प्रयोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। केन्द्राभिमुखता की यह प्रवृत्ति निरन्तर विकास करती रही। सूर-तुलसी के युग से लेकर आधुनिक युग तक यह प्रवृत्ति अक्षुण्ण है। आधुनिक काल में कविता और गद्य, दोनों क्षेत्रों में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। पद्य-क्षेत्र में भारतेन्दु, हरिऔध, पंत, प्रसाद, गुप्त, महादेवी, अंचल, अज्ञेय इत्यादि की भाषा-परिनिष्ठा इस दृष्टि से ध्यातव्य है। गद्य-क्षेत्र में यह प्रवृत्ति दो धाराओं में देखी जा सकती है—मूल्यांकन-साहित्य में और रचनात्मक साहित्य में। मूल्यांकन-साहित्य में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पंत, महादेवी (काव्य-भूमिकाएँ), प्रसाद ('काव्य-कला एवं अन्य निबन्ध'), आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, डॉ० नगेन्द्र प्रभृति विद्वानों की रचनाएँ, तथा रचनात्मक साहित्य में भारतेन्दु (कुछ नाटक), प्रसाद (नाटक) और (कहानियाँ), राहुल (उपन्यास), यशपाल ('दिव्या'), (जैनेन्द्र), लक्ष्मीनारायण मिश्र, महादेवी (गद्य) इत्यादि-इत्यादि की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार इस वर्ग की रचनाओं के कुछ सामान्य लक्षण इस प्रकार होंगे—तत्सम-प्रधान भाषा, कहीं-कहीं पंडिताऊपन, आभिजात्य शैली, विषय की दृष्टि से संस्कृति-रक्षण का प्रयास इत्यादि-इत्यादि। भाषा-शैली का यह रूप जन-भाषा से काफी दूर रहता है। इस वर्ग का साहित्य सामान्य पाठकों की दृष्टि से नहीं लिखा जाता—यह विशिष्ट वर्ग के लिए लिखा गया साहित्य होता है। इसे समझने के लिए पाठक में विशिष्ट साहित्य-शिक्षा और ग्राहकता अनिवार्य है।

यहाँ पुनः एक भ्रम-निवारण आवश्यक है। इस वर्ग के अन्तर्गत हमारा विवेच्य श्रेण्य साहित्य (Classical literature) नहीं है। श्रेण्य साहित्य का रूप भिन्न होता है। भाषा के श्रेण्य, परिनिष्ठित एवं परिमार्जित तत्त्वों को सुरक्षित रखने वाला साहित्य, यहाँ हमारा विवेच्य है। उदाहरणार्थ, प्रसाद के नाटकों की भाषा विशेषतः चन्द्रगुप्त की, सामान्य भाषा नहीं आभिजात्य भाषा है। वैसे ही, महादेवी के रेखाचित्र विषय की दृष्टि से भले ही सामान्य जीवन के चित्र देते हों, पर भाषा की दृष्टि से श्रेण्यता के निकट है, 'अलोपी' का भाषा सामान्य नहीं विशेष है। अतः गद्य-शैली की श्रेण्य धारा के अन्तर्गत श्रेण्य साहित्य विवेच्य नहीं है, बल्कि भाषा की दृष्टि से केन्द्राभिमुख (तत्सम-प्रधान), तथा वैचारिक दृष्टि से प्राचीन संस्कृति अथवा वर्त्तमान की आदर्शवादी व्याख्या देने वाला साहित्य अध्येय है।

भाषा का यह रूप कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण होता है। राष्ट्रभाषा अथवा

राजभाषा बनने की सामर्थ्य इसी भाषा-रूप में होती है। भाषा की केन्द्राभिमुखता उसे सामान्यता प्रदान करती है और तब किसी क्षेत्र-विशेष की जन-भाषा राष्ट्रभाषा का रूप ग्रहण करती है। हिन्दी के साथ भी यह स्थिति देखी जा सकती है। दिल्ली-मेरठ के आसपास बोली जानी वाली जन-भाषा राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती, बल्कि इसी से निकली हुई परिनिष्ठित एवं केन्द्राभिमुख हिन्दी राष्ट्रभाषा का रूप ले सकती है—ले रही है। अतः साहित्य-विकास और भाषा-गौरव, दोनों दृष्टियों से इस वर्ग के साहित्य का अत्यधिक महत्त्व है।

(ग) सामंती धारा— इसके ऐतिहासिक कारणों का निर्देश हम पूर्व ही कर आये हैं। उन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों से इस गद्य-शैली का निर्माण हुआ। हिन्दी-गद्य-शैली के विकास में इसकी परंपरा उतनी ही गहरी और प्राचीन है, जितनी भारत में मुस्लिम शासन की परंपरा।

मुसलमानों के आगमन के कारण फारसी आभिजात्य भाषा के रूप में प्रवेश पाती है। इस प्रकार संस्कृत-फारसी का संघर्ष दो आभिजात्यों का संघर्ष था। मध्यकाल का राज्याश्रित हिन्दी-साहित्य फारसी को शासकीय भाषा होने के कारण ग्रहण करता है। परन्तु, फारसी की 'स्वीकृति' मध्यकाल में, भाषा-क्षेत्र में कम, शैली-क्षेत्र में अधिक है। फारसी के वैसे शब्द जो सामान्य जीवन में अपना स्थान बना चुके थे, साहित्य में स्वीकृत हुए; परन्तु शैली एवं पद्धति की स्वीकृति के लिए यह शर्त आवश्यक नहीं थी। दूसरे, जायसी, कुतबन आदि प्रेमाख्यानक कवियों द्वारा फारसी पद्धति हिन्दी-साहित्य में प्रवेश पा चुकी थी। फलतः सामंती जीवन की अत्यधिक औपचारिकता एवं ऊहा से युक्त फारसी पद्धति का हिन्दी-साहित्य में नया संस्कार होता है, जिसे रीतिकाल में, पद्य-क्षेत्र में प्रचुर स्वीकृति मिलती है। रीति-काल का ऊहा-प्रधान काव्य चमत्कार-सृजन और बिलास की नयी भूमिकाएँ लेकर आता है।

फारसी प्रेम-पद्धति का एक अपना खास लहजा था, जिसे उर्दू काव्य अब तक सुरक्षित रखता आया है। रीतिकाल में उक्त पद्धति तथा रीति-शैली के सम्मिश्रण से एक अभिनव शैली का जन्म होता है, जिसके निर्माण में प्रेमाख्यानक शैली का विशेष हाथ था। गद्य-क्षेत्र में उक्त अभिनव शैली भारतेन्दु की कुछ नाटिकाओं में सर्वप्रथम प्रवेश पाती है। 'चन्द्रावली' की गद्य-शैली, गद्य-क्षेत्र में रीति-शैली की प्रतीक है। यहाँ से गद्य-क्षेत्र में यह धारा विस्तार प्राप्त करती है, जिसकी चरम परिणति राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की रचनाओं में होती है। साहित्य-मूल्यांकन के क्षेत्र में यह शैली शान्तिप्रिय द्विवेदी की आलोचनात्मक कृतियों में देखी जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इस वर्ग के लक्षण-सम्बन्धी कुछ सामान्य

निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। शैली में शायराना अन्दाज, वर्णन की लफ्फाजी, मुहावरे-कहावतों का आवश्यकता से अधिक प्रयोग, अत्यधिक भावुकता—कभी-कभी ऊहा की सीमा तक, भाषा-प्रयोग में औपचारिकता, कृत्रिम आलंकारिकता इत्यादि-इत्यादि, सामंती धारा की गद्य-शैली के सामान्य लक्षण माने जा सकते हैं।

वैसे, आभिजात्य साहित्य में इस प्रकार की गद्य-शैली कम ही मिल पाती है, इसका क्षेत्र प्रायः सस्ती किस्म का साहित्य ही है, फिर भी अपने रूमानीपन के कारण आभिजात्य साहित्य में भी यह कुछ-न-कुछ स्थान पा ही लेती है। हिन्दी-साहित्य में इसका स्थान प्रायः अपरिपक्व साहित्य में ही है—राजा साहब इसके अपवाद हैं। हमारे इस विवेचन से सम्भव है कुछ गलतफहमी हो कि हम उर्दू-साहित्य की गद्य-शैली का हीनत्व-प्रतिपादन कर रहे हों। हमारा यह दृष्टिकोण कदापि नहीं है। फारसी अपनी संस्कृति में उसी प्रकार 'रिक्थ' है, जैसे संस्कृत भाषा भारतीय संस्कृति के लिए है। परन्तु हिन्दी-साहित्य में फारसी के 'रिक्थ' वाले रूप को स्वीकार नहीं किया गया—सम्भवतः उससे हमारा व्यापक परिचय भी नहीं था। मध्यकाल में शासकीय तंत्र की कृत्रिम औपचारिकता से फारसी का साहचर्य स्थापित हुआ। परिणामतः सामंती वातावरण और फारसी दोनों पर्याय बन गये। इसी रूप में फारसी-साहित्य-परंपरा हिन्दी में स्वीकृत हुई और उसने एक नयी शैली का जन्म दिया। इसलिए हमारा तात्पर्य सामंती धारा से बिलकुल ही भिन्न है। यहाँ हम गद्य-शैली के सिर्फ उन्हीं रूपों का विवेचन करेंगे जो सामंती आभिजात्य को हिन्दी गद्य में लाती है। यह सामंती आभिजात्य, संस्कृत-भाषा-जन्य आभिजात्य से भिन्न है। यह अन्तर गांभीर्य की मात्रा में है। निश्चय ही सामंती आभिजात्य वाली शैली गंभीर चर्चा अथवा विवेचन के लिए वैसे ही असमर्थ है, जैसे ब्रजभाषा-गद्य। अतः यह सामंती आभिजात्य रचनात्मक साहित्य में तो किंचित् स्थान रख भी पाता है, मूल्यांकन-साहित्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। हिन्दी-साहित्य की अधुनातन गद्य-शैली में तो यह सामंती आभिजात्य अपना बचाखुचा महत्त्व भी सुरक्षित नहीं रख पाया है।

अतः सामंती धारा का मूल स्रोत फारसी-पद्धति है, इससे फारसी-साहित्य का भ्रम नहीं होना चाहिए। यहाँ फारसी-पद्धति के केवल वे तत्त्व विवेच्य हैं, जो अपनी ऐतिहासिक अनिवार्यता से हिन्दी-गद्य-क्षेत्र में एक नयी शैली का जन्म देते हैं।

साहित्य-विकास की वैसे दो ही धाराएँ होती हैं— लोक-धारा और परिनिष्ठित धारा। परन्तु उपर्युक्त विवेचन-क्रम में हमने देखा कि कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण हिन्दी-गद्य-क्षेत्र में एक और धारा विकसित हुई—सामंती धारा। इन तीनों धाराओं के विकास-क्रम में विशिष्ट दृष्टिकोण और परिस्थितियाँ देखी जा सकती हैं। आगे हम इन्हीं का विवेचन करेंगे।

अध्याय ४

गद्य-शैली : लोक-धारा

इस धारा के लक्षण-वैशिष्ट्य का स्पष्टीकरण हम पिछले अध्याय मे दे
ाये हैं, अतः उनका पुनराख्यान यहाँ आवश्यक नहीं।

भारतेन्दु-पूर्व गद्य-शैली की लोक-धारा का रूप वार्त्ता-साहित्य में देखा जा
कता है। ब्रजभाषा-गद्य परिनिष्ठित गद्य नहीं है। लोक-जीवन की अनगढता
हा वर्त्तमान है। पिछले अध्याय में ब्रजभाषा-गद्य सम्बन्धी सम्पूर्ण विवेचन इसके
न्तर्गत आता है। ब्रजभाषा के क्रिया-पदों के प्रयोगों के बावजूद, इस समय का
द्य केन्द्राभिमुख ही अधिक रहा। वस्तुतः लोक-दृष्टि का विकास साहित्य-क्षेत्र मे
ब तक नहीं हो पाया था। फलतः लोक-भाषा को आभिजात्य साहित्य-भाषा
थवा आभिजात्य साहित्य-तत्त्व को सामान्य बोलचाल के भाषा-स्तर पर प्रयोगार्थ
नाया जाय, इसकी आवश्यकता भी उत्पन्न नहीं हुई थी। वार्त्ता-साहित्य से यही
ष्ट होता है कि वार्त्ताकार ब्रजभाषा में गद्य लिखना चाहते थे। कुछ बातें ऐसी
ी कि वे उसे कविता में अभिव्यक्त नहीं कर पाते थे। अतः गद्य-शैली की आवश्यकता
सूस की जा रही थी, इसके अतिरिक्त वार्त्ता-साहित्य का गद्य-शैली के विकास
ी दृष्टि से और कोई महत्त्व नहीं है। बाद में रीति-ग्रंथों की टीकाओं में भी
स्कृत मिश्रित टूटी-फूटी ब्रजभाषा और खड़ीबोली की जो खिचड़ी पकायी गयी,
सका मूल्य भी कुछ अधिक नहीं है। और, जब तक साहित्य के विषय-क्षेत्र का
स्तार जन-जीवन तक नहीं हो गया रहता, गद्य-शैली का इतने से अधिक महत्त्व
ना संभव भी नहीं था।

अस्तु, लोक-धारा का अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप पहले-पहल भारतेन्दु की कतिपय
चनाओं में मिलता है। भारतेन्दु-काल में गद्य-शैली प्रयोग की अवस्था में थी।
सलिए तद्युगीन गद्य-शैली की लोकपरकता संक्रमण की लोकपरकता है। इसे
म 'अनवधान' शैली ही कह सकते हैं।

भारतेन्दु ने रचनात्मक साहित्य के साथ-साथ आलोचना के क्षेत्र में भी
ी कुछ लोकपरक शैली का आश्रय लिया। वैसे, भारतेन्दु की रचनाओं में प्राय
िश्रित शैली के ही उदाहरण मिलते हैं। भारतेन्दु ने अपने नाटक में पात्रानुकूल
षा देने के क्रम में सर्वथा शुद्ध लोकपरक भाषा का प्रयोग किया है—

चौकीदार— (स्वगत) ई के हौ भाई? कोई परदेसी जान पड़ला, हमहन

के कुछ घूस-फूस देई की नाहा, भला दखी तो सहा (प्रकाश) कौन है ?

सुन्दर— हम एक परदेशी है।

चौ०— सो क्या हमैं नहीं सूझता, पर कहाँ रहते हौ ?

सुन्दर— हमरा घर दक्षिण है। इत्यादि।[१]

उपर्युक्त उद्धरण में पूर्वी बोली का प्रयोग द्रष्टव्य है। यद्यपि भारतेन्दु ने उपर्युक्त बोली का प्रयोग पात्रानुकूल वार्त्तालाप देने के लिए किया है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने लोक-दृष्टि प्राप्त कर ली थी। भारतेन्दु के लिए साहित्य सिर्फ आभिजात्य नहीं रह गया था, और न वे भाषा-प्रयोग की दृष्टि से ही आभिजात्य मात्र थे। बोलचाल की भाषा, उसके शब्द-शिल्प का ठेठ रूप, उसका लहजा न सिर्फ उनकी गद्य-शैली में प्राप्त थे, बल्कि नाटक में आयी प्रसंगानुकूल कविताओं मे भी प्राप्त है। बोलचाल की भाषा का उदाहरण लें—

"जलेबियाँ गरमागरम। ले सेव इमरती लड्डू, गुलाब-जामुन खुरमा बुँदिया बरफी समोसा पेड़ा कचौड़ी दालमोट पकौड़ी घेवर गुपचुप। हलुआ ले हलुआ मोहनभोग। मोयनदार कचौड़ी कचाका हलुआ नरम चभाका। घी में गरक चीनी मे तरातर चासनी में चमाचम। ले भूर का लड्डू। जो खाय सो भी पछताय। जो न खाय सो भी पछताय। रेवड़ी कड़ाका। पापड़ पड़ाका। ऐसी जात हलवाई जिसके छत्तिस काम हैं भाई। जैसे कलकत्ते के विलसन मंदिर के भितरिए, वैसे अंधेर-नगरी के हम। सब सामान ताजा। खाजा ले खाजा। टके सेर खाजा।"[२]

अथवा,

चने बनावैं घासीराम। जिनकी झोली मे दूकान।
चना चुरमुर चुरमुर बोलै। बावू खाने को मुँह खोलै।।
....
चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते।।[३]

उपर्युक्त उद्धरणों से बनारसी गली का दृश्य सामने आ जाता है। कविता की अंतिम पंक्ति का तो ऐतिहासिक महत्त्व है। 'दूना टिकस लगाते' की स्थिति आज भी वैसी ही है, जैसे भारतेन्दु-काल में थी। यह बोलचाल की भाषा है। इसमें आभिजात्यीकरण का जरा भी प्रयास नहीं है। भारतेन्दु के नाटकों में ऐसे अनेक उदाहरण अनायास मिल जाते हैं।

---

१. 'विद्यासुन्दर', तृतीय आवृत्ति, पृ० ६।

२. अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ५५० (प्रथम संस्करण)।

३. वहीं, पृ० ५४६।

भारतेन्दु-मंडल के लेखकों ने भी लोक-भाषा का प्रयोग आभिजात्य साहित्य की रचना में किया। वह काल हिन्दी भाषा के शैली-निर्माण का काल था। अतः बोलचाल की भाषा से परिनिष्ठित भाषा की ओर संक्रमण उस युग का निजी वैशिष्ट्य है। सरल भाषा और सहज मुहावरों के प्रयोग में तो भारतेन्दुजी आलोचना में भी नहीं चूकते।

भारतेन्दु-मंडल के अन्य लेखक पं० प्रताप नारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहन सिंह, चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' इत्यादि भी इस ओर प्रवृत्त थे। एक-दो उदाहरण से ही बात स्पष्ट हो जायगी—

"भला बताइये तो आप क्या हैं? आप कहते होंगे, वाह! आप तो आप ही हैं। यह कहाँ की आपदा आयी? यह भी कोई पूछने का ढंग है?"

—प्रताप नारायण मिश्र, 'आप' शीर्षक लेख से उद्धृत।

अथवा,

"उड़िया भाषा के अक्षर खूब ही मेड़कों की शकल के हैं। हरफ क्या है मानो मेंड़क बैठे हैं। हरफ का असली आकार जरा सा नीचे छिपा हुआ रहता है। ऊपर से गोलाकार लकीर इस प्रकार घेरा लगाती है मानो हनुमानजी पूँछ का हलका लगाये बैठे हैं।"

—पं० बालमुकुन्द गुप्त, 'देवनागरी अक्षर' शीर्षक निबंध से उद्धृत।

इतना ही नहीं, ईसाई प्रचारकों ने भी बोलचाल की भाषा का महत्त्व पहचाना था। फ्रेडरिक पिन्काट की भाषा देखिए—

"हे लड़को! तुमको चाहिए कि अपनी पोथी को बहुत सँभाल कर रक्खो। मैली न होने पावे, बिगड़े नहीं और जब उसे खोलो चौकसाई से खोलो कि उनका पन्ना अँगुली तले दबकर फट न जावे।"   —बालदीपक से[१]

स्पष्ट है कि सामान्य बोलचाल की भाषा भारतेन्दु-काल के लेखकों का प्रश्रय पा सकी थी। उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि लोक-धारा की दृष्टि से प्रयोग की दो दिशाएँ थीं— सामान्य बोलचाल की हिन्दी और क्षेत्रीय बोलियाँ। ये दोनों सरणियाँ परवर्ती गद्य में भी सुरक्षित रहीं।

भाषा-प्रयोग का यह रूप राष्ट्रीय जागरण तथा हिन्दी-गद्य-क्षेत्र में हुई प्रतिक्रिया की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ऐसी बात नहीं कि भारतेन्दु-मंडल के लेखक संस्कृत अथवा अरबी-फारसी से अनभिज्ञ थे। वे जानते अवश्य थे, भारतेन्दु के शेर अथवा बालकृष्ण भट्ट की शैली से यह प्रमाणित है। किन्तु उनकी दृष्टि विशेषज्ञता का दावा नहीं करना चाहती थी। "हरिश्चन्द्र-काल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति

१. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में आ० शुक्ल द्वारा उद्धृत, पृ० ४८१।

की पूरी परख थी। संस्कृत के ऐसे शब्दों और रूपों का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृताभ्यासी ही परिचित होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं, उनका प्रयोग वे बहुत औचट में पड़कर ही करते थे।"[1] जन-जागरण की उस वेला में पांडित्य-प्रदर्शन की अपेक्षा सरलता ही अपेक्षित थी। इसके अतिरिक्त उनके सामने पाठक-वर्ग के मानसिक स्तर का भी प्रश्न था। वैसे, परिनिष्ठित हिन्दी का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ। मेरा स्थापन सिर्फ इतना है कि केन्द्राभिमुख भाषा के आधार पर हिन्दी की परिनिष्ठा अभी निर्मित हो रही थी। इसी क्रम में भारतेन्दु-मण्डल के लेखक बोलचाल की भाषा का प्रयोग करते थे। भाषा विकास की यह स्वाभाविक प्रक्रिया है।

हम पूर्व ही कह आये हैं कि आधुनिक काल का मूलस्वर पुनरुत्थान का नहीं, बल्कि पुनर्मूल्यांकन का है। पुनर्मूल्यांकन की प्रवृत्ति तथा राष्ट्रीय जागरण को समान्तरीय रूप में देखा जा सकता है। भारतेन्दु-काल के बाद इनका स्वरूप और भी स्पष्ट हुआ। हिन्दी भाषा का क्षेत्र-विस्तार भी परिलक्ष्य है। हिन्दी भाषा और साहित्य-विधाओं का इतना बहुविध विकास हुआ कि इनका अध्ययन अब किसी काल-विशेष (मेरा संकेत यहाँ 'द्विवेदी युग' नामकरण की ओर है) में बाँटकर नहीं देखा जा सकता, अधिक-से-अधिक कुछ देर के लिए द्विवेदी-मंडल के रूप में कुछ कालावधि को सीमित किया जा सकता है।

जन-जागरण के साथ-साथ हिन्दी भाषा का विस्तार भी होता गया। हिन्दी धीरे-धीरे अब परिनिष्ठा के स्तर तक पहुँच गयी थी, बल्कि यों कहें कि परिनिष्ठा का आग्रह बढ़ गया था। फलतः आभिजात्य की कोटि में आने वाले साहित्य में लोक-धारा गद्य-शैली बहुत कम मिलती है। द्विवेदी-मण्डल के लेखकों में सामान्य बोलचाल की भाषा के प्रयोग करने की प्रवृत्ति का अपेक्षाकृत अभाव है।

आभिजात्य साहित्य से थोड़ा हटकर हरिऔध का 'ठेठ हिन्दी का ठाट' आता है, जिसमें ठेठ हिन्दी के प्रयोग का आग्रह मिलता है। हरिऔधजी इसे ठेठ हिन्दी का दूसरा ग्रन्थ मानते हैं।[2] लोक-धारा की गद्य-शैली का यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, यद्यपि इसमें न तो बोलियों को प्रश्रय दिया गया है और न ही किसी अंचल-विशेष को। यह एक ट्रेजेडी है। वस्तुतः यह पुस्तक किसी लोक-दृष्टि से लिखी भी नहीं गयी थी। इसकी रचना खड्ग विलास प्रेस के बाबु रामदीन सिंह के आग्रह पर हुई थी।[3] इसका महत्त्व सिर्फ भाषा-प्रयोग की दृष्टि से है। यहाँ भी प्रवृत्ति केन्द्रोन्मुख ही

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ४५२।
२. उपोद्घात, ठेठ हिन्दी का ठाठ (छठा संस्करण), पृ० ७।
३. वही, उपोद्घात, पृ० ७।

है। अन्तर इतना है कि यह भाषा कलेवर प्रचलित शब्द-प्रयोग एवं संस्कृत के अपभ्रष्ट रूप तथा देशज शब्द, इनके मिलने से बना है। एक उदाहरण ही अलम् होगा—"इस धरनी पर सुख ही नहीं दुःख भी है। दो दिन की बातें हैं, ये पंखुड़ियाँ कैसी हँस रही थी, इनमें कैसी सुघराई थी, कैसा अनोखापन था, कैसी जी लोभाने वाली छटा थी। पर आज न वह हँसी है, न सुघराई है, न वह अनोखापन, न वह छटा। आज वह कुम्हला गई हैं, सूख गई हैं, मुरझाई हुई धरती पर पड़ी हैं। जग का यही ढंग है, सब दिन एक सा नहीं बीतता, फिर जिस पर जो पड़ता है, उसको वह भुगतना होता है, होनहार अपने हाथ नहीं, मानुख सोचता और है, होता और है, घबड़ाने से क्या होगा ?"[1]

स्पष्ट है कि हरिऔधजी ठेठ हिन्दी से सर्व-प्रचलित भाषा का अर्थ लेते हैं। इसमें विदेशी स्रोतों (फारसी आदि) से आधारित शब्दों का स्थान नहीं है। किन्तु यह 'आमफहम' भाषा नहीं है। यहाँ हिन्दी का अपना प्रकृत रूप है। ऐसे ही हरिऔधजी ने 'अधखिला फूल' की भी रचना की। ये दोनों पुस्तकें प्रयोग-मात्र है। हरिऔधजी मूड में आकर 'प्रियप्रवास' की भी रचना कर सकते थे। भाषा-क्षेत्र में जितने प्रयोग हरिऔधजी ने किये कदाचित् अन्य किसी ने नहीं।

सामान्य बोलचाल की भाषा के प्रयोग तद्युगीन अनभिजात्य साहित्य में अधिक मिलते हैं। 'गहमरी' द्वारा सम्पादित 'जासूस' में इसका रूप देखा जा सकता है—

"इधर दो दिनों तक ठनठन को जासूस जगन्नाथ की कुछ खबर नहीं मिली। तीसरे पहर एक आदमी ने अकस्मात् पहुंचकर ठनठन गोपाल से कहा कि जगन्नाथ जासूस ने फौरन उनसे भेंट करने को बुला भेजा है। क्या बात है, क्या काम है, सो कुछ भी वह बतला नहीं सकता।"

अथवा,

"मैं चारों ओर ताकता हुआ बड़ी तेजी से प्लाटफार्म लाँघकर फाटक पर पहुँचा। अच्छी तरह सबको देखा उतरने वालों को भी जाँचा बाहर भी जाकर ढूँढा लेकिन उस राजेश्वरी का कहीं पता न चला।"

—जासूस, सितम्बर, १९२२ ई० से उद्धृत।

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि हिन्दी की शैली अँगरेजी और फारसी के प्रचलित शब्दों को आत्मसात् कर रही थी। 'ठेठ हिन्दी' के दो पुरोहित—इंशा अल्लाह खाँ और हरिऔध की शैलियों को अन्तर्भुक्त करने का प्रयास यहा द्रष्टव्य है। गहमरी ने अपनी कहानियों में भी इसी भाषा-शैली का अनुसरण किया। उदाहरण के लिए 'गोदाम में चोरी' शीर्षक कहानी को देखा जा सकता है। 'जासूस' से उद्धृत उपर्युक्त पंक्तियों की शैली भी सामान्य वार्त्तालापवत् है। बाबू देवकी

१. ठेठ हिन्दी का ठाठ, पृ० २८।

नन्दन खत्री ने भी इसी शब्द का प्रयोग किया था। इस शैली का वैशिष्ट्य इसका सामान्य प्रचलित रूप है।

लाला भगवानदीन ने आलोचना-क्षेत्र में भी सामान्य बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है—

"ठाकुर कवि के मद्धे शिवसिंह, मिस्टर ग्रियर्सन और बाबू हरिश्चन्द्र जी ने संदेह तो किया परन्तु निश्चय करने का कष्ट किसी ने नहीं उठाया।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त 'मद्धे' शब्द विशुद्ध मगही शब्द है जिसका अर्थ होता है, सम्बन्ध में अथवा सम्बन्धित। दीनजी गया के निवासी थे और तब 'मद्धे' शब्द का प्रयोग आश्चर्य उत्पन्न नहीं करता। दीनजी अँगरेजी के शब्दों को ज्यों-का-त्यों रख देते हैं—

"किसी रूपवती स्त्री की जिस छटा पर अपना चित्त प्रसन्न होता उस छटा का चित्र आप तत्काल अपने कविता-केमेरा से खींच पब्लिक में पेश करते।"[2]

यह हिन्दी की पुष्ट भाषा-शैली नहीं है। अँगरेजी-प्रभाव के पहले दौर में इस प्रकार की भाषा-शैली हिन्दी में काफी प्रयुक्त होती थी— दीनजी का उपर्युक्त वाक्य इस ओर संकेत करता है।

आचार्य शुक्ल के 'द्विवेदी-युग' तक लोकधारा की दृष्टि से गद्य-शैली में इसी प्रकार के प्रयोग चले। यहीं प्रेमचन्द आते हैं— भाषा का एक अनवधान रूप लेकर। अब आभिजात्य साहित्य मोड़ लेता है। विषय-क्षेत्र की दृष्टि से तीन धरातल मिलते हैं—ग्रामीण, नागरिक मध्यवर्ग तथा नागरिक श्रमिक अथवा समाज का सबसे निचला तबका। इन क्षेत्रों के अनुकूल ही भाषा-शैली भी रूप ग्रहण करती है। प्रेमचन्द ने भाषा का रूप निखारा। उनमें परिनिष्ठित भाषा के रूप के साथ-साथ लोक-सापेक्ष सरल तथा सामान्य बोलचाल की भाषा भी प्राप्त है। प्रेमचन्द की गद्य-शैली रूढ़ कभी नहीं बनी और न उसे सजाने-सँवारने का प्रयास ही उनमें मिलता है। सामान्य भाषा का रूप देखिए—

"साहब कालिख पोतते और हँसते जाते थे। यहाँ तक कि आँखों के सिवा तिल भर भी जगह न बची। थोड़ी-सी शराब के लिए आदमी से बनमानुष बनाया जा रहा था। दिल में सोच रहा था, यहाँ से जाते ही जाते बचा पर मानहानि की नालिश कर दूँगा। किसी बदमाश से कह दूँगा, इजलास ही पर बचा की जूतों से खबर ले।"[3]

यहाँ 'बचा पर नालिश कर दूँगा', 'जूतों से खबर ले' आदि प्रयोग सामान्य

---

१. 'ठाकुर-ठसक' (सं० १९८३ वि०), पृ० १।

२. वही, पृ० २०।

३. 'दीक्षा' कहानी में, मानसरोवर (तृतीय भाग), पृ० १९७।

बोलचाल के हैं। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने भाषा-शैली के इस रूप को और भी लोक-सापेक्ष बनाया। ग्रामीण जीवन के चित्रण के लिए यह आवश्यक भी था, इसमें वातावरण की विश्वसनीयता बनी रहती है—

"होरी ने फिर पूर्व की ओर देखा। साइत भिनसार हो रहा है। गोबर काहे को जागने लगा। नहीं, कहके तो यही सोचा था कि मैं अँधेरे ही चला जाऊंगा। जाकर नाँद तो गाड़ दूँ; लेकिन नहीं, जब तक गाय द्वार पर न आ जाय, नाँद गाड़ना ठीक नहीं। कहीं भोला बदल गये या और किसी कारन से गाय नहीं दी, तो सारा गाँव तालियाँ पीटने लगेगा, चले थे गाय लेने। पट्ठे ने इतनी फुर्ती से नाँद गाड़ दी, मानों इसी की कसर थी।"[१]

'साइत', 'भिनसार', 'पट्ठे', 'फुर्ती' इत्यादि शब्द तथा 'काहे को जागने लगा', 'तालियाँ पीटने लगेगा', 'पट्ठे ने फुर्ती से' इत्यादि लहजे सामान्य बोलचाल के हैं। गोदान में पात्रों के कथोपकथन, उनके स्वकथन तथा लेखक की अपनी टिप्पणियों में भी भाषा का यही रूप मिलता है। यह लोक-दृष्टि की उपलब्धि है।

प्रेमचन्द ने अपने लेखों में भी लोक-धारा-वैशिष्ट्य से समन्वित भाषा का प्रयोग किया है। ये लेख आलोचनात्मक भी हैं और अन्य विषयों पर भी। 'साहित्य का उद्देश्य' में संकलित कई निबन्धों में यत्र-तत्र ये प्रयोग मिल जायेंगे।

प्रेमचन्द ने 'गोदान' में तथा अनेक कहानियों में अंचल-विशेष की जीवन पद्धति को वाणी अवश्य दी, किन्तु उनके समय तक 'आंचलिकता' का वाद नहीं खड़ा हो पाया था। गाँव की ओर वे मुड़े अवश्य, किन्तु उनकी दृष्टि एक विशेष परिधि तक ही सीमित थी। वे गाँवों में उठने वाले तूफान (कर्मभूमि, रंगभूमि), वहाँ का शोषण-चक्र (गोदान) तथा जागृति के स्वर को पहचानने में लगे थे। फलतः उनके उपन्यासों और कहानियों में ग्रामीण जीवन अपने सभी संभावित पक्षों के साथ नहीं उभर सका। भाषा-प्रयोग की दृष्टि से इसलिए प्रेमचन्द ठेठ ग्रामीण भाषा को नहीं अपना सके। बिलकुल उन्हीं की भाषा में वे बातें नहीं करते, उसमें उनकी नागरिकता अमिट छाप छोड़ जाती है। चूँकि उन्होंने गाँव को राष्ट्रीय जागरण एवं आर्थिक असंगतियों के परिप्रेक्ष्य में देखा था, फलतः वे 'होरी' को बेलारी की ठेठ भाषा नहीं दे सके। यहाँ मेरा उद्देश्य प्रेमचन्द की उपलब्धियों की अवमानना करना नहीं है, बल्कि यह दिखलाना है कि उनके पात्र अपनी भाषा का प्रयोग नहीं करते बल्कि उसके किंचित् नागरिक संस्करण में बात करते हैं। यह कोई दुर्गुण या असमर्थता नहीं है। प्रश्न सिर्फ दृष्टिकोण का है। यह आवश्यक भी नहीं था कि प्रेमचन्द अंचल की भाषा का प्रयोग करते ही। यह तो तब सम्भव होता जब वे 'बेलारी' को उसी के निजी संदर्भ में देखते।

---

१. गोदान, पृ० २८।

अंचल-विशेष को उसके निजी संदर्भ में देखने का कार्य बाद में हुआ और तब आंचलिक भाषा का ही प्रयोग होने लगा। लोक-धारा की गद्य-शैली के पक्ष में यह अवस्था काफी उर्वरा सिद्ध हुई। इस संदर्भ में भारतेन्दु-काल का मूल्यांकन करते हुए मैं यह कह आया हूँ कि वहाँ यह धारा परिनिष्ठा की ओर उन्मुख होने के क्रम में प्राप्त है। किन्तु विवेच्य काल में यह धारा परिनिष्ठा से लोकोन्मुखता की ओर संक्रमित है।

नगर की समृद्धि में मध्यवर्ग का यथेष्ट चित्र-दर्शन कथा-साहित्य में हुआ तो कथाकार गाँव को उसकी समग्रता में, उसी के निजी संदर्भ में चित्र-दर्शन करने चला जिनमें अग्रणी है फणीश्वरनाथ रेणु। पूँजीवादी-तंत्र की ऊँची अट्टालिकाओं से पथ-राई भूमि का यथेष्ट अध्ययन हुआ तो कथाकार उसी नगर की झोपड़ियों और गलियों में पल रहे स्लम्स को अनुभूत करने चला जिनमें अग्रणी है शैलेश मटियानी। इन दो के अतिरिक्त और भी अनेक हैं जो इन दो दिशाओं में अग्रसर हैं।

लोकजीवन के वैशिष्ट्य को पहले-पहल समग्र रूप से 'रेणु' ने उभारा और 'रेणु' को ही अपने पात्रों को उनकी ही भाषा देने का 'सर्वप्रथम' श्रेय भी प्राप्त है। 'मैला-आँचल', 'परती परिकथा' और 'ठुमरी' कहानियाँ लोकधारा की गद्य-शैली और उसके वैशिष्ट्य की दृष्टि से अप्रतिम हैं। वहाँ गाँव बोलता है। कालीचरण वासुदेव को 'सुशलिस पाटी' के बारे में समझाता है—

"यही पाटी असल पाटी है। गरम पाटी है। 'किरान्तीदल' का नाम नहीं सुना था?.... 'बम फोड़ दिया फटाक से मस्ताना भगत सिंह', यह गाना नहीं सुने हो? वही पाटी है। इसमें कोई लीटर नहीं। सभी साथी हैं, सभी लीटर हैं। सुना नहीं! हिंसाबात तो बुरजुआ लोग बोलता है। बालदेवजी तो बुरजुआ है, पूँजीबाद है।.... इस किताब में सब कुछ लिखा हुआ है। बुरजुआ, पेटी बुरजुआ, पूँजीवाद, पूँजीपति, जालिम जमीन्दार.... अब बालदेव जी की लीटरी नहीं चलेगी। हर समय हिंसाबात, कुछ करो तो बस अनसन।...."[१]

उपर्युक्त पंक्तियों में गाँव की राजनीतिक धड़कन देखी जा सकती है। 'हिंसा-बात' अहिंसावाद है, 'बेटी बुरजुआ' पेटी बुरजुआ है। गाँव अपनी धारणा और क्षमता के अनुसार तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल को स्वीकार कर रहा था गाँधी की अहिंसा और उग्र क्रान्तिकारियों की हिंसानीति—इन दो धाराओं में तत्कालीन राजनीति प्रभावित थी। गाँव इनसे अपरिचित नहीं था। गाँव स्वयं सजग है। पर साथ ही गाँव में भी नेतृत्व की असंगतियाँ पनप रही थीं, इस ओर भी

१. मैला आँचल, पृष्ठ १०८ (राजकमल पॉकेट बुक्स)।

रेणुजी ने संकेत किया—कालीचरण उसी समझाने के क्रम में कहता है—'कपड़ा की मेम्बरी किसी तरह मिल जाय, तब देखना।' यहाँ भ्रष्टाचार का स्वर स्पष्ट है।

विवरण तथा निर्देश देने के क्रम में भी लेखक लोकभाषा के साथ-साथ परि-निष्ठित भाषा का प्रयोग करता है; किन्तु यहाँ भी प्रेमचन्द की परम्परा देखी जा सकती है। शब्द-प्रयोग—ऊपरी आदमी (परदेशी के अर्थ में), जन (मजदूर), टीक (चुटिया), फाहरम (फ़ार्म), छापी (तस्वीर), हिड़िस (प्रतियोगिता) इत्यादि दृष्टि की से रेणु प्रेमचन्द के हमसफर हैं—परिनिष्ठत शैली के मध्य इन शब्दों का प्रयोग ही मेरा मंतव्य है। पात्रों के नाम भी गाँव की सीमा में हमें ले जाते हैं—बौनदास, प्यारू, लरसिंघ दास, लछमी, बिरसा, रबिया, सोनिमा, तेतरा इत्यादि।

गाँव के नृत्य, गीत, संगीत, सभी अपनी 'सोंधई' के साथ उभर आये है। हर गीत में थिरकन देखी जा सकती है—

धिनागि धिन्ना, तिरनागि तिन्ना
धिनक धिनता तिरकत ग--द--धा····
आहे चलहु सखि सुखधाम, चलहु!
आहे कन्हैया जहाँ सखि हे,
रास रचाओल हे! चलहु हे चलहु!
··धिन्ना हिन्ना ना धि धिन्ना![१]

गाँव की अल्हड़ युवती का अंग-अंग थिरक उठता है—

सनियाँ मुरमू कालिचरन की हर बात पर खिलखिलाकर हंसती है····
हँ हँ हँ हँ हँ! सरगम के सुर में हँसती है सनियाँ। तीतर की आवाज की तरह हँ हँ हँ हँ।····उसके चरण थिरकने के लिए चपल हो उठे हैं।

मानर की आवाज····रिग रिंग ता धिन ··ता!
डिग्गा की अटूट··ताल··डिग्गा, डा डिग्गा!
उन्मुक्त स्वर लहरी ····जोहरी जो तबे सोहरे बाचवे!
मुरली की लय पर पायलों का छुम छुम, छुन्न छुन्न!
डा डिग्गा डा डिग्गा
रिग रिग ता धिन-ता।"[२]

---

१. मैला आँचल, पृष्ठ ९६।
२. वही, पृष्ठ १२०।

जैसे सूरज वातावरण नष्ट कर उगा हो

सम्भवतः हिन्दी उपन्यासों के विकास में यह पहला अवसर था कि नगर के संस्कार का भोक्तृत्व धरातल गाँव रहा हो। 'मैला आँचल' का डॉक्टर इस दृष्टि से अकेला ही है। वैसे 'गोदान' का डॉ० मेहता तथा कर्मभूमि का अमरकान्त, दोनों शहर से गाँव की ओर जाते हैं, किन्तु उनमें गाँव के प्रति वह मोह, लिप्तता नहीं है जो मैला आँचल के डॉक्टर में है।

अस्तु ! मैला आँचल लोक-धारा शैली का एक मीलस्तम्भ है—निरूपण और मूल्यांकन दोनों दृष्टियों से (निरूपण शैली का, मूल्यांकन गाँव का)।

शैलेश मटियानी ने बंबई के वैभव की पृष्ठभूमि में साँस लेती, घुटती जिन्दगी को उसी की भाषा में वाणी दी। 'बोरीवली से बोरीबंदर तक' के पात्र अपनी भाषा और 'स्लैंग्स' बोलते हैं। दादा साफ-सुथरी हिन्दी बोलता है, पर सरदार जी हिन्दी-पंजाबी को मिला देते हैं—

"साडा साहब बड़ा कमीना है यार। उस दी धी नूँ सेंडिल देन जाओ, तो सेंडिल दे बदले हथ फड़ लैंदा है—'सरदार अ-अ····' बाप कहे, बदमाश, लड़की से आँख लड़ाता है।'····यार, मैं इत्थों बोरीवली से उतर जायगा।"[१]

विट्ठल भी अपनी भाषा बोलता है। इस भाषा में नागरिक संस्कार नहीं है—

"काहे का, भाऊ, वस्ताद ? हम भी, आई शपथ, एकत्र जासूस है। कालीना जाते समय दादा को पूछा था 'दादा तुमेरे सूरत से तो उसका सूरत मिलता नहीं ?' क्या दादा बोला, 'सगा भाई नहीं है'····हमेरे को पूछो, सगा क्या, झूठा भाई भी नहीं है ! अरे, वस्ताद वह तो हिन्दू है, हिन्दू।"[२]··दादा ठेठ हिन्दी इसलिए बोलता है कि उसके संपर्क का क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत है। विट्ठल या सरदारजी का क्षेत्र वैसा नहीं। पात्र जो भाषा बोलते हैं वह उनकी मातृभाषा और हिन्दी के मिले-जुले रूप से बनी है। यह हिन्दी-गद्य-शैली की नयी दिशा है।

'शैलेश' ने न सिर्फ अपने उपन्यासों में बल्कि कहानियों में भी भाषा-प्रयोग की यह पात्र-सापेक्षता सुरक्षित रखी है। 'एक कोप चा : दो खाटी बिस्कुट' का प्रधान चरित्र रामन्ना अपनी खिचड़ीफरोश भाषा में बोलता है। 'शैलेश' उसका परिचय

---

१. बोरीवली से बोरीबन्दर तक, पृष्ठ १७।

२. वही, पृष्ठ १०२।

भी उसी की भाषा में देते हैं—

"औरत की बिजली के 'कनकसन' का कायल, रामन्ना अट्ठारा की उमर से रहा है। आज वह अट्ठाइस का हो चला, तो इस कनकसन को और भी कड़क महसूस करता है। उसने नसीम का हाथ धीरे से दबा दिया—क्या माँगता तेरे को ?"[1]

इस क्षेत्र में अन्य उल्लेख्य व्यक्तियों में शिव प्रसाद सिंह अग्रणी हैं। भाषा में गाँव का सोंधापन इन्होंने भर दिया है—

"अभी भोर न हुई थी। मगर पूर्वी आसमान में ललछौंहा उजास फूटने लगा था। बीमू धोबी का बेटा सुरजितवा गधों पर लादी लादे गाता हुआ नदी की ओर चला जा रहा था।"[2] 'ललछौंहा उजास' का बिम्ब और सौंदर्य बोध द्रष्टव्य है।

वैसे ही अमृतलाल नागर ने 'बूंद और समुद्र' में, धर्मवीर भारती ने 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में, उदयशंकर भट्ट ने 'सागर, लहरें और मनुष्य' में, नागार्जुन ने 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' आदि में तथा निराला ने 'बिल्लेसुर बकरिहा' में लोकधारा की शैली का वैशिष्ट्य उपस्थित किया।

गद्य-शैली का यह रूप यथार्थवाद का प्रश्रय पाकर विकसित होता है। विषय की वस्तून्मुखता के साथ-साथ भाषा का भी यथार्थवादी रूप हो, यह इस प्रकार के लेखकों की अवधारणिक उपलब्धि है। इसलिए इस गद्य-शैली के परवर्त्ती रूप को यथार्थवादी प्रवृत्ति के समानान्तर देखना चाहिए।

राजनीतिक जागृति के साथ-साथ जन-जागृति के आंदोलन भी चले। हिन्दी भाषा सहज ही माध्यम के रूप में स्वीकृत हुई। इस क्षेत्र में हिन्दी का लोकधारा वाला रूप ही प्रायः स्वीकृत हुआ। जन-जागरण में जन की ही भाषा हो, यह गाँधीजी का मंतव्य उनकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"इसलिए ग्राम-उद्योग और चरखा-संघ का जो काम है वह तभी चल सकता है जब करोड़ों आदमी उसमें मदद दें। अगर वे न दें तो वह काम बिलकुल चल नहीं सकता। चार चीजें, जहाँ तक मुझको याद है, अर्थात् चरखा-संघ, हरिजन-सेवक-संघ, ग्राम उद्योग संघ और तालमी संघ—जो बनी हैं, वे चारों की चारों धनिकों के लिए नहीं, बल्कि गरीबों के लिए हैं। सबलोगों को इनके काम में हाथ बँटाना है। अगर न बटाएँ तो वह काम चल नहीं सकता।"[3]

---

१. रागरंग, अप्रिल, १९६१ ई०।

२. 'सँखर भये पलास', धर्मयुग (७ अप्रिल, '६३), पृ० १३।

३. गाँधी-साहित्य, खंड २, पृ० २२८।

गाँधीजी की उपर्युक्त पंक्तियों में पूँजीवादी असंगतियों के प्रति वही असन्तोष देखा जा सकता है जो प्रेमचंद-साहित्य की रीढ़ है। वस्तुतः जनसाधारण की भाषा की साहित्य-स्वीकृति 'साहित्य जीवन के लिए' सिद्धांत-वाक्य की प्रतिपत्ति है। इस आंदोलन के क्रम में राजनीतिक क्षेत्र में लोक-धारा-शैली के साथ-साथ परिनिष्ठित हिन्दी का रूप भी मिलता है—

"नौका में पानी बढ़ जाने पर जैसे हम उसको, एक हाथ से नहीं, दोनों हाथों से बाहर फेंकते हैं, इसी तरह बढ़े हुए धन को घर के बाहर फेंककर घर को बचाना चाहिए। फुटबॉल की तरह धन का खेल होना चाहिए। गेंद को कोई अपने पास नहीं रखता। वह जिसके पास पहुँचती है वही उसे फेंक देता है। पैसे को उसी तरह फेंकते जाइए तो समाज-शरीर में उसका प्रवाह बहता रहेगा और समाज का आरोग्य कायम रहेगा। संस्कृत में पैसे को द्रव्य कहा है। 'द्रव्य' माने बहने वाला। अगर वह स्थिर रहा तो रुके हुए पानी की तरह उसमें बदबू आने लगेगी।"[1]

यह मिश्रित शैली है। किन्तु भाषा-वैशिष्ट्य का आग्रह यहाँ नहीं है। जन-शक्ति को जागृत करना ही इन नेताओं का उद्देश्य रहा था। साहित्य-क्षेत्र में इस धारा के लेखक भी बहुत कुछ यही कार्य करते हैं। अतः लोक-धारा की गद्य-शैली का विकास विशिष्ट से सामान्य की ओर संक्रमित दृष्टिकोण के समानान्तर देखा जा सकता है।

समासतः गद्य-शैली की लोक-धारा का यही सूत्र-निरूपण है। उपर्युक्त विवेचन से इस मुख्य धारा की भी कई अन्तर्धाराएँ स्पष्ट होती हैं—

(क) परिनिष्ठा की ओर संक्रमित प्रारंभिक प्रयोग,

(ख) आभिजात्येतर साहित्य के प्रयोग,

(ग) ग्रामीण और नागरिक स्लम्स के चित्रण के आग्रह से उत्पन्न प्रयोग-वृत्ति—

(i) प्रेमचन्द की नागरिक संस्कार से युक्त भाषा

(ii) 'रेणु' की आंचलिक भाषा

(iii) शैलेश मटियानी की मिश्रित भाषा

(घ) जनजागरण के क्रम में राजनीतिज्ञों द्वारा प्रयुक्त भाषा इत्यादि।

इन सरणियों में हिन्दी की सामर्थ्य देखी जा सकती है। इन प्रयोगों से एक ओर ही भाषा की समृद्धि बढ़ती एवं शिल्प निरखता है, दूसरी ओर हिन्दी का क्षेत्र-विस्तार होता है। साथ ही यहाँ यह स्मरण रखना है कि इस गद्य-शैली के विविध उतार-

---

१. विनोबा शांति-यात्रा- पृ० १६२।

चढ़ाव के पीछे उनके दृष्टिकोण में आये परिवर्तन ही निर्देशक तत्त्व हैं। सामाजिक व्यवस्था का उसके यथार्थ रूप में विषय-यथार्थ के साथ-साथ भाषा-यथार्थ की स्वीकृति इस गद्य-शैली के माध्यम से उभारा जा सका। और, इस दृष्टि से प्रेमचन्द-पूर्व की लोक-धारा वाली शैली का प्रयोग है, प्रेमचन्द उसके आभिजात्य को उभारते हैं और बाद के लेखक प्रेमचन्द से इस बात में आगे हैं। वे प्रेमचन्द की अपेक्षा अंचल का अधिक पूर्ण परिचय दे सके—फोटोग्राफिक सचाई के साथ। राजनीतिज्ञों ने हिन्दी भाषा को माध्यम मानकर उसकी सामर्थ्य पर स्वीकृति की मुहर दे दी है।

अध्याय ५

गद्य-शैली : परिनिष्ठित धारा

परिनिष्ठित धारा से मेरा तात्पर्य हिन्दी गद्य की केन्द्राभिमुख प्रवृत्ति से है, यह मैं पूर्व ही स्पष्ट कर आया हूँ। हिन्दी इसी केन्द्राभिमुखता के माध्यम से संस्कृत के 'रिक्थ' को अपने में उदाहृत कर पायी है। इस दृष्टि से सिर्फ हिन्दी ही प्रयत्नशील रही हो ऐसी बात नहीं है। सभी भारतीय भाषाएँ, दो-एक को छोड़कर, अपने 'रिक्थ' के लिए संस्कृत भाषा की ऋणी है। वस्तुतः संस्कृत भाषा भारत की सांस्कृतिक एकता एवं उपलब्धियों की प्रतीक रही है। हिन्दी कई ऐतिहासिक अनिवार्यताओं के कारण संस्कृत से अपेक्षाकृत अधिक निकट है। मध्यकाल में जब व्रजभाषा-काव्य लिखा जा रहा था, अथवा उसके पूर्व भी जब आदिकालीन काव्य लिखा गया, या अवधी-काव्य की रचना हुई, हिन्दी अपनी स्रोतस्विनी से कभी भी दूर नहीं रही। बल्कि यों कहें कि द्विवेदी-काल तक का साहित्य, संस्कृत-भाषा-साहित्य से ऋजुतः प्रभावित रहा।

भाषा की दृष्टि से यह केन्द्राभिमुखता शुभ लक्षण है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा कहा करते थे कि हिन्दी का परिनिष्ठित रूप ही अपने वैशिष्ट्य के कारण समस्त भारत की भाषा का स्थान ग्रहण कर सकता है। पाकिस्तान के अलग हो जाने के बाद राष्ट्रभाषा के रूप में आमफहम भाषा का प्रश्न ही नहीं उठता और अँगरेजी को हम अधिक दिनों तक 'नकली' भाषा के रूप में रख नहीं सकते। अत परिनिष्ठित हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार की जा सकती है, संस्कृत से इसकी निकटता भी हिन्दी के इस रूप को पुष्ट करती है।

किसी युग में संस्कृत भी सामान्य विचार-विनिमय की माध्यम रही होगी। छठी-सातवीं शती के आसपास लोकभाषा प्रबल होने लगती है—जिनके तीन प्रमुख रूप सामने आते है—पालि, प्राकृत और अपभ्रंश। किन्तु ये भाषाएँ भी संस्कृत शब्दावली से मुक्त नहीं थीं। केन्द्राभिमुखता यहाँ भी देखी जा सकती है, विशेषत कविताओं में। इस दृष्टि से आचार्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा किया गया तदयुगीन भाषा का मूल्यांकन द्रष्टव्य है— 'सही बात यह है कि चौदहवीं शताब्दी तक देशी भाषा के साहित्य पर अपभ्रंश भाषा के उस रूप का प्राधान्य बना रहा है जिनमें तद्भव शब्दों का ही एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे-धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं-दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम

शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४वीं शताब्दी के आरंभ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे।"[1]

इस धारा की निश्चित परंपरा ज्योतिरीश्वर (१४वीं शती) और विद्यापति (१८वीं शती) से गद्य-क्षेत्र में प्रारंभ हो जाती है। इस दृष्टि से क्रमशः 'वर्ण रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' अवलोक्य हैं। दोनों में तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है—

"निशाक नाइकाक शंखवलभ अइसन अकाश० दीक्षित (क) कमण्डल अइसन० चन्द्रकान्तक प्रभा अइसन० तारकाक सार्थवाद अइसन० शृंगार समुद्रक कल्लोल् अइसन० कुमुदवनक प्राण अइसन० पश्चिमोचलक तिलक अइसन० अन्धकारक मुक्ति क्षेत्र अइसन० कन्दर्प नरेन्द्रक यश अइसन० लोक लोचनक रसायन अइसन० एवम्विध चन्द्र उदित भउ अह।'[2]

"अवरु वैचित्री कहओं का जन्हि केस धूप धूम करी रेखा धूवहु उप्पर जा काहु काहु अइसनजो संगत करे काजरे चान्द कलङ्क। लज्ज कित्तिम कपट तारुन्न। धन निमित्ते घर पेय, लोभ विनअ, सौभागे कामन। विनु स्वामी सिन्दूर परा परिचय अपामन।"[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में शब्द-प्रयोग की दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं—संस्कृत के शब्द, शुद्ध रूप में तथा मैथिली की विभक्ति से युक्त। मैथिली में ये प्रवृत्तियाँ अभी भी सुरक्षित हैं। अस्तु, उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है कि गद्य-क्षेत्र में संस्कृत शब्दों का मुक्तहस्त प्रयोग १४वीं शती से ही प्रारंभ हो जाता है।

हिन्दी-साहित्येतिहास के मध्यकाल में गद्य को बहुत प्रश्रय नहीं मिला। वह प्रधानतः काव्य का युग था। पर बोलचाल में गद्य ही प्रयुक्त होता होगा, ऐसा निश्चित अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि उसका साहित्य प्रचुरतः उपलब्ध नहीं। वार्ता-साहित्य के गद्य को इस वर्ग के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता; क्योंकि वहाँ लोक-शैली की ही प्रधानता है। वैसे, संस्कृत शब्दों का प्रयोग वहाँ भी काफी है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"पाछें गुसाईं जी ने एक पालना संस्कृत में कीयौ सो पालना सूरदास जी को सिखायौ। सो पालना सूरदास जी ने श्री नवनीत प्रिया जी झुलत हुते ता समय गायौ। सो पद। राग रामकली। 'प्रेम पर्यंक शयनं' यह पद सूरदास जी ने सम्पूर्ण

---

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल (द्वितीय संस्करण), पृ० १८।

२. ज्योतिरीश्वर, 'वर्ण रत्नाकर' (पृ० १७; 'हिन्दी-साहित्य और बिहार' (प्र० सं०) में उद्धृत, पृ० ३७।

३. कीर्तिलता, पृ० ३४; वही, पृ० ४१।

करिकें गाय सुनायौ श्री नवनीत प्रिया जी कों। पाछें या पद के भाव के अनुसार बहुत पद कियै सो सुनि के गुसाईं जी बहुत प्रसन्न भयै।"[1]

ज्योतिरीश्वर और विद्यापति की शैली तथा उपर्युक्त उद्धृत वार्त्ता-साहित्य की पंक्तियों में भाषा-परिनिष्ठा की दृष्टि से स्पष्ट ही अन्तर है। वाक्य-विन्यास, शब्द-संश्लेष तथा समास-नियोजन में स्पष्ट अन्तर है। ज्योतिरीश्वर ने क्रियापदों को छोड़कर अन्य शब्द-विन्यास मूल संस्कृत का रखा है, जब कि वार्त्ता-साहित्य में तत्सम रूप के साथ तद्भव रूप भी सम्मिलित है, साथ ही वाक्य-विन्यास में देशज शब्दों के प्रयोग भी प्रचुरतः हुए हैं। अतः जिस आभिजात्य की चर्चा हम कर रहे हैं, उस वर्ग में वार्त्ता-साहित्य का गद्य नहीं आता।

मध्यकाल में गद्य का दूसरा रूप है रीतिकालीन रचनाओं की स्वयं कवि द्वारा की गयी टीकाएँ, अथवा अन्य द्वारा की गयी टीकाएँ। इस वर्ग के गद्य में भी विशेष उल्लेखनीय बहुत नहीं हैं। वैसे, टीकाएँ बहुत सारी लिखी गयीं, परन्तु गद्य की दृष्टि से बहुत सारी उल्लेख्य नहीं हैं। भिखारीदासकृत 'काव्य-निर्णय' (सं० १७६० वि०), तथा 'रामानंद लहरी' (सं० १८६५ वि०) भाषा के किंचित् परिमार्जन की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। रीतिकालीन टीका-गद्य में काव्य-निर्णय में प्रयुक्त गद्य अपेक्षाकृत परिमार्जित है, किन्तु यह भी विवेच्य धारा के अन्तर्गत परिगण्य नहीं हैं, क्योंकि इसकी भाषा-शैली ब्रजभाषा के अधिक निकट है—आभिजात्य यहाँ भी नहीं है। वैसे, केन्द्राभिमुखता कुछ अंशों में यहाँ भी देखी जा सकती है—

"बन निरंजन है, ताही तें बलाक (बक) निहचल (निश्चल) है, यै व्यंग है, ताते चलिके बिहार कीजै यै पीतम (नायक) कों सुनायौ (सो) यै व्यंग तें व्यंग है।"[2]

इसकी शैली बहुत कुछ वार्त्ता-शैली से मिलती-जुलती है। वैसे, विषय काव्य-शास्त्रीय है, इसलिए यत्र-तत्र संस्कृत शब्दों का मूल रूप में प्रयुक्त हो जाना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। तात्पर्य यह कि गद्य-क्षेत्र में ज्योतिरीश्वर-विद्यापति की भाषा-शैली १८वीं शती तक अनुदाहृत रही।

१९वीं शती के प्रथम दशक में लिखी गयी एक पुस्तक 'रामानंद लहरी'[3] उपलब्ध होती है। इसके लेखक का पता नहीं चलता। इसमें रामचरितमानस के कुछ प्रारंभिक अंशों पर भाष्य-पद्धति में टीका की गयी है। इसकी भाषा-शैली का उदाहरण मैं पहले ही (अध्याय २ में) दे आया हूँ। एक लघु उद्धरण यहाँ भी दे देना समीचीन होगा—

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा संपादित 'अष्टछाप', पृ० १२।

२. श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'काव्य-निर्णय', पृ० ५२।

३. यह पुस्तक लेखक की निजी खोज है तथा इसकी हस्तलिखित प्रति भी लेखक के निजी पुस्तकालय में उपलब्ध है।

"जिनको अनंत भगवान् कही ताते श्रीमद्रामचंद्र श्रीजानकी जू श्रीलक्ष्मण जू तीनिहूँ स्वरूप को चरित परम दिव्यतम अनंत ऐसो जो चरित है ताको छीर-साई भगवान् लक्ष्मी शेष एतीनिहूँ स्वरूप को चरित संपूर्ण जानते हैं।"

उपर्युक्त उद्धरण की भाषा-शैली निश्चय ही 'ज्योतिरीश्वर-विद्यापति' की भाषा-शैली से विकसित है। यह खड़ीबोली के निकट है, साथ ही केन्द्राभिमुखता की मात्रा भी अधिक है।

मध्यकाल में गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक केन्द्राभिमुख रहा। मध्यकालीन कविता में तद्भव, और देशज शब्दों की अपेक्षा तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है। यह प्रवृत्ति प्राचीन संस्कृति से अधिकाधिक निकटता स्थापित करने के कारण उत्पन्न हुई।

भारतेन्दु-साहित्य भाषा-शैली की त्रिवेणी है—यहाँ आभिजात्य, लोक और सामंती, तीनों शैलियों का संगम है। भारतेन्दु-साहित्य में हिन्दी-गद्य ब्रजभाषा के प्रभाव से प्रायः मुक्त हो गया। काव्य-क्षेत्र में यह प्रभाव तो द्विवेदीकाल तक समाप्त नहीं हो पाया। केन्द्राभिमुखता की जो प्रवृत्ति मध्यकाल से चली आ रही थी, उपर्युक्त क्षेत्रों में प्रचुरतः उदाहृत हुई।

भारतेन्दु-पूर्व खड़ीबोली के परिमार्जन का श्रेय मुख्यतः दो व्यक्तियों को है—राम प्रसाद निरंजनी और सदल मिश्र। श्री निरंजनी ने ब्रजभाषा से प्रचुरतः प्रभावापन्न युग में भी खड़ीबोली का शुद्ध एवं आभिजात्य रूप सामने रखा था—

"प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमे सब लीन और स्थित होते हैं,....जिस आनंद के समुद्र के कण से संपूर्ण विश्व आनंदमय है, जिस आनंद से सब जीव जीते हैं। अगस्त जी के शिष्य सुतीक्षण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और बिनती कर प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप सब तत्त्वों और सब शास्त्रों के जाननहारे हो, मेरे एक संदेह दूर करो।"[१]

गद्य-शैली की यह परिनिष्ठा श्री निरंजनी के पूर्व कहीं नहीं मिलती। बाद मे भी काफी अरसे के बाद ऐसा प्रौढ़ गद्य आया। सदल मिश्र भी ऐसा प्रौढ़ गद्य नहीं दे सके। 'फूलन्ह के बिछौने', 'चहुँदिस', 'सुनि', 'सोनन्ह के थंभ' इत्यादि प्रयोग ब्रजभाषा के हैं। सं० १८९६ वि० में मार्श मैन साहब के 'प्राचीन इतिहास' का अनुवाद पं० रतनलाल ने किया। इस अनुवाद की भाषा 'विशुद्ध और पंडिताऊ' है। विशुद्ध अथवा ठेठ आभिजात्य के लिए यह ध्यातव्य है—

"परंतु सोलन की इन अत्युत्तम व्यवस्थाओं से विरोध भंजन न हुआ।

१. भाषा-योगवाशिष्ठ, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, आ० शुक्ल, पृ० ४११।

पक्षपातियों के मन का क्रोध न गया। फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इसलिए प्रजा की सहायता से पिसिसट्रेटस नामक पुरुष सबो पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया, तथापि यह उस काल में दूरदर्शी और बुद्धिमानों में अग्रगण्य था।"[१]

इस भाषा में शब्द-प्रयोग के आयास स्पष्ट हैं। लेखक आयासजन्य भाषा का प्रयोग करता है। पंडिताऊपन का यह सर्वमान्य लक्षण है। इस प्रकार की भाषा बाद में चलकर काफी प्रचलित हुई। बाद में राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' ने 'मानव धर्म सार' की भाषा का रूप भी संस्कृतगर्भित ही रखा।

अस्तु, भारतेन्दु-पूर्व परिनिष्ठित धारा का इतिहास इतना ही है। भारतेन्दु के पूर्व इस प्रकार की संस्कृत-प्रधान भाषा सिर्फ निबन्धादि में ही प्रयुक्त हुई। रचनात्मक साहित्य में इस वर्ग की भाषा स्वीकृत नहीं हुई। वैसे, 'राज भोज का सपना' मे परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग हुआ है, इसे अपवाद ही कहना चाहिए। भारतेन्दु-साहित्य मे पहली बार रचनात्मक साहित्य में भी प्रौढ़ एवं संस्कृतगर्भित गद्य का प्रयोग हुआ। भारतेन्दु ने आलोचना के साथ-साथ नाटकों में भी आभिजात्य भाषा का प्रयोग किया। यद्यपि यहाँ भी भाषा काफी परिमार्जित नहीं है अथवा यों कहे कि शुक्ल या शुक्लेतर परिनिष्ठा प्राप्त नहीं कर पायी थी, फिर भी गद्य-विकास की इस धारा के संदर्भ में यह काफी महत्त्वपूर्ण है। कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायगी—

आलोचना की शैली—

"पुराचीनकाल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक मण्डली की जिस प्रकार रुचि थी वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्यकाव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गये हैं किन्तु वर्त्तमान समय मे इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश मे विलक्षण है। इससे संप्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।"[२]

उपर्युक्त पंक्तियों की भाषा भी पंडिताऊ है। वाक्य-विन्यास पर गौर करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक भाषा-रचना-चिह्नों का समुचित विकास नहीं हो पाया था। उसमें यत्र-तत्र लघुविराम, सामासिक शब्द-चिह्न, अर्द्धविराम इत्यादि रचना-चिह्नों का अभाव है। गद्य यद्यपि प्रौढ़ है; किन्तु शैली-परिमार्जन का अभाव है। यह भाषा राम प्रसाद निरंजनी अथवा पं० रतनलाल की भाषा से बहुत दूर नहीं है।

---

१. हि० सा० का इतिहास, वही, पृ० ४२५।

२. भारतेन्दु, 'नाटक' (१८१४ ई०), पृ० १३।

रचनात्मक साहित्य में भारतेन्दु ने अपेक्षाकृत अधिक सुलझी हुई भाषा का प्रयोग किया है। यहाँ पंडिताऊपन की अपेक्षा हिन्दी का निजीपन अधिक उभरा है—

"अहा! बड़ा पद मिलने से कोई बड़ा नहीं होता। बड़ा वही है जिसका चित्त बड़ा है। अधिकार तो बड़ा है, पर चित्त में सदा क्षुद्र और नीच बातें सूझा करती हैं, वह आदर के योग्य नहीं हैं, परंतु जो कैसा भी दरिद्र है, पर उसका चित्त उदार और बड़ा है वही आदरणीय है।"[१]

भारतेन्दु के बाद यह शैली सर्वस्वीकृत हो गयी। प्राचीन संस्कृति से अविच्छिन्न संबद्ध होने तथा उसके पुनर्मूल्यांकन के प्रयास के साथ-साथ स्वाभाविक रूप से गद्य-शैली में तत्सम-प्रधानता स्वीकृत होती गयी। भारतेन्दु-मंडल के अन्य लेखक इस शैली को तो स्वीकारते ही थे, द्विवेदी-मंडल के लेखकों में भी इस दृष्टि से कोई अन्य प्रवृत्ति दृष्टिगत नहीं होती। अकेले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भाषा-संस्कार की दृष्टि से ध्यान आकर्षित करते हैं। हिन्दी गद्य-शैली के परिमार्जन में आचार्य द्विवेदी की देन अक्षुण्ण है। इनके पूर्व हिन्दी के वैयाकरणिक संस्कार का प्रयास किसी ने नहीं किया था। सरस्वती-संपादन के क्रम में द्विवेदीजी को इसका अवसर मिला। गद्य-शैली के जो वैयाकरणिक मानदंड आचार्य द्विवेदी ने तथा उन्हीं की प्रेरणा से पं० कामता प्रसाद गुरु ने निर्धारित किया वह अब तक सर्वस्वीकृत है। आचार्य द्विवेदी की शैली में एक सुनियोजित तराश मिलती है, जिसने हिन्दी के निजी रूप को उभार दिया। भाषा-प्रयोग की दृष्टि से आचार्य विशुद्धतावादी थे। पंडिताऊपन की हिमायत इन्होंने नहीं की। वे उन्हीं तत्सम शब्दों को स्वीकारते थे जो हिन्दी में पच सके। इस प्रकार अनावश्यक शब्दजाल का तिरस्कार किया गया। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"शरत्काल है। धरातल पर धूल का नाम नहीं। मार्ग रजो-रहित है, नदियों का औद्धत्य जाता रहा है, वे कृश हो गयी हैं, सरोवर और सरिताएँ निर्मल जल से परिपूर्ण हैं। जलाशयों में कमल खिल रहे हैं। भूमि-भाग काशांसुकों से शोभित है। वनोपवन हरे-हरे लोल पल्लवों से आच्छादित हैं। आकाश स्वच्छ है, कहीं बादल का लेश नहीं। प्रकृति को इस प्रकार प्रफुल्लवदना देखकर एक दफे रात के समय श्रीकृष्ण को एक दिल्लगी सूझी।"

—'गोपियों की भगवत् भक्ति' शीर्षक निबन्ध से।

उपर्युक्त उद्धरण के अन्तिम वाक्य की तुलना अन्य वाक्यों से कर देखिए, बात स्पष्ट हो जायगी। इसमें पांडित्य अवश्य है, किन्तु पंडिताऊपन नहीं और अन्तिम वाक्य तो जैसे अन्य पंक्तियों को और भी निखार देता है।

अभी हिन्दी-गद्य को गंभीर अर्थवत्ता मिलनी शेष थी। इस कार्य को

---

१. 'सत्य हरिश्चन्द्र', भारतेन्दु नाटकावली (प्र० सं०), पृ० ५१।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किया। तत्सम शब्द किस रूप में हिन्दी को निखार सकते हैं, तथा उनका प्रयोगौचित्य क्या होना चाहिए, इसे शुक्लजी ने अपनी भाषा-शैली में स्पष्ट किया। शब्द-प्रयोग में आयास की अपेक्षा शुक्लजी की शैली में प्रयोगावधान मिलता है, जो उनके पूर्व बहुत कुछ अप्राप्य है। यहाँ आकर गद्य-शैली एक निश्चित ऊँचाई पर पहुँच गयी है। कुछ उदाहरण ध्यातव्य हैं—

"भावना को मूर्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण-कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उनमें जाति-संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं। बहुत-से ऐसे शब्द होते हैं जिनसे किसी एक का नहीं बल्कि बहुत-से रूपों या व्यापारों का एक साथ चलता-सा अर्थ ग्रहण हो जाता है। ऐसे शब्दों को हम जाति-संकेत कह सकते हैं। ये मूर्त्त-विधान के प्रयोजन के नहीं होते।"[१]

अथवा

"लक्षणा द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है।"[२]

अथवा

"और मनोवेगों के आधिक्य से लोभ के आधिक्य में विशेषता यह होती है कि लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता रहता है, जिससे असन्तोष की अनिष्टा के साथ ही साथ और वृत्तियों के लिए स्थायी अनवकाश हो जाता है। और मनोविकारों में यह बात नहीं होती।"[३]

अथवा

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।"[४]

विषय-विश्लेषण की यह निर्भ्रान्त पद्धति शुक्लोत्तर काल में नहीं थी। उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि आ० शुक्ल विषय-विश्लेषण में आणविक प्रणाली के समर्थक थे, परिणामतः उनकी भाषा-शैली विवरण नहीं देती विश्लेषण करती थी। वे अपने कथ्य सूत्रों में कह जाते थे। वे सूत्र भाष्य की अपेक्षा रखते हैं, समासतः शब्दों का सावधान प्रयोग, निर्भ्रान्त विश्लेषण, एवं सूत्र-रचना, ये तीन विशेषताएँ

---

१. रस-मीमांसा (प्र० सं०), पृ० ३४-३५।

२. वही, पृ० ३४।

३. चिन्तामणि, प्र० भाग, पृ० ११३।

४. वही, पृ० १९२-९३।

बनी है, जिसकी कोई सुपुष्ट परंपरा हिन्दी गद्य-शैली की शुक्लजी के पूर्व नहीं थी। शुक्लजी ने सिर्फ शब्द-संश्लेष ही नहीं किया, अपितु अर्थ-संघनन भी किया।

तत्पश्चात् रचनात्मक साहित्य और मूल्यांकन-साहित्य की भाषा बहुत कुछ पृथक्-पृथक् हो गयी। कविता के क्षेत्र में यह परिवर्त्तन बहुत ज्यादा नहीं है। गद्य-क्षेत्र में इस अन्तर को स्पष्ट देखा जा सकता है। नाटक, कहानी, उपन्यास इत्यादि विधाओं की भाषा सामान्य बनती गयी—हिन्दी का प्रचलित रूप मान्य हुआ। किन्तु मूल्यांकन-साहित्य की भाषा संस्कृतनिष्ठ होती गयी। संस्कृत काव्यशास्त्र का पुनर्मूल्यांकन की शुरुआत शुक्लजी ही कर गये थे। शनैः-शनैः विदेशी साहित्यशास्त्र और संस्कृत काव्यशास्त्र दोनों की समन्वय-भूमि खोजने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। रचनात्मक साहित्य की नयी प्रवृत्तियों के कारण यह आवश्यक भी था। मूल्यांकन की शास्त्रीयता और पारिभाषिकता के लिए विशेष शब्दों की आवश्यकता बढ़ती गयी। दूसरी ओर तकनीकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए तथा विज्ञान, उद्योग, प्रशासन इत्यादि के लिए भी विशेष प्रकार की भाषा की अनिवार्यता बढ़ी। इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तरकाल में श्रेण्य भाषा की दृष्टि से दो प्रवृत्तियाँ लक्षित हुईं—

(क) रचनात्मक साहित्य की श्रेण्य भाषा,

(ख) मूल्यांकन-साहित्य की श्रेण्यता, तथा स्वातंत्र्योत्तरकाल में एक तीसरी प्रवृत्ति भी आती है—

(ग) पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण।

रचनात्मक साहित्य में भाषागत श्रेण्यता भारतेन्दु के नाटकों में देखी जा सकती है। इस प्रारंभिक प्रयोग का और भी प्रांजल रूप श्री जयशंकर प्रसाद के नाटको में उभरता है। 'प्रसाद' के नाटकों में प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के पुनर्मूल्यांकन की प्रवृत्ति प्रधान है। समस्त देश में जो सांस्कृतिक जागरण की लहर चल पड़ी थी, 'प्रसाद' के नाटक उसी के प्रतीक बनकर आते हैं। 'प्रसाद' ने संस्कृत-निष्ठ भाषा-प्रयोग के माध्यम से प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और इतिहास का वातावरण उपस्थित करने की चेष्टा की। उनके नाटकों की संस्कृत-गर्भित भाषा के कारण ही, उनके पात्र उस प्राचीन वातावरण को सजीव रूप मे उपस्थित कर देते हैं। पाठक का मानस-प्रत्यक्ष भी उसी काल में होने लगता है। 'चंद्रगुप्त मौर्य' से कुछ उदाहरण लीजिए—

सिंहरण कहता है—"आर्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही हैं। उत्तरापथ के खण्डराज द्वेष से जर्जर से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।" पुनः उसी का कथन—"एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्यावर्त्त के लौह अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चंचला रणलक्ष्मी इन्द्रधनुष-सी विजयमाला हाथ में लिये उस सुन्दर नील लोहित प्रलय

जनद में विचरण करेंगी और वीर-हृदय मयूर-से नाचेंगे।"

(चन्द्रगुप्त, अंक–१, दृश्य–१)

'अजातशत्रु' से कुछ उदाहरण लें—

बिंबिसार का कथन— "संसारी को त्याग-तितिक्षा या विराग होने के लिए यह पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं रह जाता क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।" (अजातशत्रु, अंक–१, दृश्य–४)

स्पष्ट ही, भाषा ही वह शक्ति है जो 'प्रसाद' के पात्रों को उनके तत्-तत् ऐतिहासिक वातावरण में प्रक्षेपित करती है।

कथा-साहित्य—कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी श्रेण्य भाषा की शुरुआत 'प्रसाद' ने ही की थी। 'कंकाल' की भाषा सामान्य भाषा से अलग, परिष्कृत, अलंकृत एवं संस्कृतनिष्ठ है—

"निरभ्र गगन में मचलती हुई चाँदनी—गंगा के वक्ष पर लोटती हुई चाँदनी—कानन की हरियाली से हरी-भरी चाँदनी। और स्मरण हो रही थी मंगल के प्रणय की पीयूष-वर्षिणी चंद्रिका।"

'कंकाल' एक यथार्थवादी उपन्यास है, जिसका सम्बन्ध समाज के निम्न मध्यवर्ग से है, फिर भी 'प्रसाद' ने संस्कृतगर्भित भाषा का ही प्रयोग किया। स्पष्ट ही श्रेण्य भाषा का प्रयोग 'प्रसाद' का मज्जानिक संस्कार बन गया था।

'प्रसाद' जी के बाद उपन्यास-क्षेत्र में यशपाल (दिव्या) और आचार्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (बाणभट्ट की आत्मकथा और चारु चन्द्रलेख) ने श्रेण्य भाषा का प्रयोग किया। यहाँ भी प्राचीन संस्कृति के पुनरुद्घाटन की प्रवृत्ति है। फलस्वरूप वैसी ही भाषा का प्रयोगाग्रह स्पष्ट है।

किन्तु, रचनात्मक साहित्य में उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त, श्रेण्य भाषा को और अधिक प्रश्रय नहीं दिया गया है। मूल्यांकन-साहित्य में, ठीक इसके विपरीत, कुछेक आलोचकों को छोड़कर (डॉ० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि) प्रायः सभी ने इसी श्रेण्य हिन्दी का प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोग में भी जो सामान्यीकृत रूप है, उनका विवेचन व्यर्थ ही है। हाँ, कुछ विशिष्ट प्रयोग है जिनका उल्लेख आवश्यक है।

आचार्य शुक्ल ने जिस सामासिक, विश्लेषणात्मक एवं सूत्रात्मक शैली का प्रयोग किया था, उसे सहज रूप में स्वीकार करने वाले समीक्षक बहुत कम ही हुए। आचार्य शुक्ल की सहजता को अपनाने वालों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, आचार्य डॉ० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ही परिगण्य हैं। इनमें आचार्य शुक्ल की

सूत्र-पद्धति के सफल प्रयोगकर्त्ता तो और भी कम हुए— इस दृष्टि से सिर्फ दो ही उल्लेख्य हैं— डॉ० रामविलास शर्मा और स्व० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा।

किन्तु, आचार्य शुक्ल की भाषा-शैली के असहज अनुकर्त्ता काफी हैं, जिन्होंने सामासिकता में पांडित्य-प्रदर्शन भी किये। विशेषत: छायावादियों में 'प्रसाद', पंत और महादेवी की गद्य-शैली और भी बोझिल और साग्रह संस्कृत मज्जित है। इन तीनों की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

प्रसाद— "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया, जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।"[१]

पंत—"कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। ....छन्द-बद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौहचूर्ण की तरह अपने चारो ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (Magnetic field) तैयार कर लेते हैं।"[२]

महादेवी— "बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् तक फैले ज्ञान तथा भावक्षेत्र मे समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते-खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओं का आविष्कार किया होगा। ....कला सत्य को ज्ञान के सिकता विस्तार में नहीं खोजती, अनुभूति की सरिता तट से एक विशेष बिन्दु पर ग्रहण करती है।"[३]

उपर्युक्त पंक्तियों में आचार्य शुक्ल की शैलीगत विशेषताएँ तो सुरक्षित है, पर साथ ही अनावश्यक रूप मे संस्कृतनिष्ठता का आग्रह भी परिलक्ष्य है। शब्द-प्रयोग में उसकी अर्थवत्ता और प्रयोगौचित्य पर विचार आवश्यक होता है, अन्यथा भाषा-शैली बोझिल और निष्प्राण हो जाती है। छायावादियों तक तो गनीमत है, बाद में तो कुछ ऐसे भी लेखक आये जिन्होंने सिर्फ प्रयोग के लिए प्रयोग किये। इस प्रकार की भाषा-शैली की कृत्रिमता देखी जा सकती है—

"शौर्य और शालीनता के समीकरण से अद्वैत का अवधान है, प्रज्ञा से प्रादुर्भूत विध्वंसवादी स्वर की स्वैर भावना पर अंकुश का अभियान ही मानसिक एवं वैचारिक द्वैत पर एकात्म तत्त्व का अधिष्ठान करने में सक्षम हो जाता है। इस सक्षमता का ही नामान्तर 'मनोनियन्त्रण' है। ....ध्वनि-तरंगें अन्तराकाश में

१. 'काव्य और कला' तथा अन्य निबन्ध, पृ० १७।
२. 'पल्लव' का प्रवेश, पृ० ४८।
३. 'दीपशिखा' की भूमिका, पृ० २।

परिभ्रमित होकर विविधा-वाणी का आकार ग्रहण कर स्नायविक आघात से आहत हो प्रस्खलित होने लगती है, और विमुक्त वायुमण्डल में विचरित होकर अनन्त आकाश में ऊर्ध्वगामिनी बनकर अक्षर-देह धारण कर अमरता प्राप्त करती है।....”

—‘अंतरिक्ष तथ्यान्वेषण के वैज्ञानिक प्रयास’[१] (निबंध), ले० सूर्यनारायण व्यास

इस प्रकार की भाषा-शैली की उपयोगिता संदिग्ध है।

इन सबसे पृथक् गद्य-क्षेत्र में एक और प्रयोग हुआ है, जो शब्दों के सावधान प्रयोग तथा पारिभाषिकता के लिए हिन्दी में अकेला है। सन् १९५५ ई० में प्रो० जगदीश पाण्डेय की एक पुस्तक प्रकाशित हुई—“शील-निरूपण: सिद्धान्त और विनियोग”। इसकी भाषा-शैली विश्लेषण-क्षमता, सूत्र-निर्माण और गांभीर्य के कारण आचार्य शुक्ल की याद ताजी कर देती है। एक उदाहरण लें—

“यों तो मनुष्यमात्र का सत्तासार ज्ञातत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्तियों की एक संपृक्त अन्विति है, पर व्यक्ति के शील-भवन की आधार-शिला उसकी भोक्तृत्व-पद्धति ही है। ज्ञान स्वयं संचय है, संचारक नहीं, परिचायक नहीं।.. जहाँ भाषा भावों की भाषा हुई, वाणी शील की सरस्वती हो जाती है, जैसे, “मैया मैं नहिं माखन खायो।’ ..जहाँ हाव के पीछे भाव नहीं, वहाँ शील नहीं। क्रिया-मात्र शील नहीं, जब तक वह प्रतिक्रिया न हो। ....वह शील जो व्यक्त नहीं होता, जो मूक-मृत वेदना, कण्ठावरुद्ध सहानुभूति और हास्य के स्वगत का भ्रूण-मात्र बनकर रह जाता है, काव्य की या जीवन की दृष्टि से अत्यल्प मूल्य रखता है।”[२]

शब्दों का इतना सार्थक प्रयोग, जिसमें किसी प्रकार का व्यतिरेक न हो, सम्भवत: आचार्य शुक्ल के बाद पहली बार हुआ है। इसमें क्लिष्टता है, किन्तु पारिभाषिक औचित्य के साथ। इसमें पांडित्य-प्रदर्शन नहीं, भाषा का अतिसार नहीं; बल्कि प्रयोग का कौशल और शब्दों का उपवन है।

तीसरी प्रवृत्ति, पारिभाषिक शब्दों की श्रेण्यता, स्वतंत्रता के बाद सामने आयी। वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के लिए हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया गया। स्व० डॉ० रघुवीर इस क्षेत्र में अकेले थे। इन्होंने संस्कृत की धातुओं, उपसर्गों एवं प्रत्ययों के आधार पर शब्दों का निर्माण किया। ये शब्द वस्तुत तत्सम नहीं हैं, बल्कि संस्कृत की सहायता से निर्मित किये गये हैं। यहाँ एक प्रकार की गड्डमड्ड वाली स्थिति दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक राज्य पृथक्-पृथक् पारिभाषिक शब्द-निर्माण-संस्थाओं का संगठन करता है। डॉ० रघुवीर द्वारा निर्मित पारिभाषिक शब्दों को न तो सभी राज्य स्वीकार करते और न उनमें कोई निश्चित एकरूपता ही है।

---

१. ‘सरिता’ में उद्धृत, मार्च, ६३, पृष्ठ २५२।

२. शील-निरूपण : सिद्धान्त और विनियोग, पृष्ठ १-२।

परिणामतः सरकारी भाषा कृत्रिम भाषा बन गयी। सरकारी टेण्डर का एक नमूना देखिए —

कार्यपालक अभियन्ता, जनकार्य विभाग,

·····प्रमण्डल,

निविदा की सूचना

"निम्नलिखित कार्यों के लिए, जनकार्य बिभाग की फार्म संख्या एक-२ के रूप में अंकित कर निम्न हस्ताक्षरी के कार्यालय से २) रुपये (जो वापस नहीं किये जा सकते हैं) की अदायगी पर प्राप्त परिमाण के बिल पर मुहरबन्द टेण्डर, निम्न हस्ताक्षरी द्वारा मंगलवार १० जून के तीन बजे अपराह्न तक प्राप्त किये जायेंगे तथा टेण्डरदातागण अथवा उनके अधिकारप्राप्त अभिकर्त्ताओं के समक्ष खोले जायेंगे।" इत्यादि····इत्यादि।

उपर्युक्त उदाहरण में कृत्रिमता तो बहुत कम ही है। प्रायः इससे भी अधिक 'भीषण सुन्दर' गद्य-शैली का प्रयोग सरकारी दफ्तरों में होता है। उपर्युक्त उद्धरण का वाक्य-विन्यास असंतुलित एवं शब्द-प्रयोग मक्षिका स्थाने मक्षिका न्याय का प्रतीक है। अधिकारियों का अल्पज्ञान, कल्पनाहीनता तथा शब्दों की अथवत्ता समझ सकने की अक्षमता के कारण हिन्दी की एक कृत्रिम शैली सरकारी कारखाने में निर्मित हो रही है। वैसे ही अँगरेजी से हिन्दी में अनुवादों की भाषा भी प्रायः 'मक्षिका स्थाने मक्षिका न्याय' का ही रूप उपस्थित करता है। फ्रायड के मनोविश्लेषण का अनुवाद ऐसा है। इस प्रकार की भाषा-शैली न श्रेण्य है, न परिनिष्ठत ही। इनकी भाषा-वृत्ति को कोष-निर्माण-प्रक्रिया कहा जा सकता है।

अस्तु, संक्षेप में श्रेण्य एवं परिनिष्ठ हिन्दी गद्य-शैली का इतिहास इतना ही है। हिन्दी की शक्ति और समृद्धि इससे बढ़ती है। आवश्यकता है उसकी सामर्थ्य को पहचानने की। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा के रूप-परिवर्त्तन करने का अधिकार सिर्फ जनमानस को तथा उसके परिष्कार और संस्कार का अधिकार सिर्फ साहित्यकार को है। सरकार और उसके अधिकारी वर्ग अपनी विद्वन्मन्यता अपने पास ही रखे तो ज्यादा अच्छा है। जनमानस वैसा कर रहा है और साहित्यकार भी लोकभाषा तथा परिनिष्ठित भाषा की समन्वयभूमि तैयार कर रहा है— राष्ट्रभाषा का रूप इसी समृद्ध भाषा में उभर सकता है।

अध्याय ६

गद्य-शैली : सामंती धारा

रीतिकाल का साहित्यिक परिवेश एक कल्पित धरातल का था। साहित्य-रूढ़ियाँ—भारतीय और फारसी प्रधान थीं। कवि एक कल्पित दुनिया में निवास करता था। जीवन का यथार्थ शायद ही उभरा हो और जहाँ तक जीवन-यथार्थ का प्रश्न है, भक्तिकाल में भी कबीर को छोड़कर अन्यों ने उसे वाणी नहीं दी।

मुगल-साम्राज्य के परवर्त्तीकाल (अकबर के बाद का काल) में सामंती परंपरा का निर्माण हो चुका था। यहाँ सामंती परंपरा से मेरा तात्पर्य स्वतंत्र फ्यूडलिज्म से है। ये सामंत जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। शासकों के प्रति जिम्मेदार होने के कारण उनका ही मुख जोहना सामंतो का उपजीव्य था। फलतः एक विशेष वातावरण का सृजन होता है। सामंत शोषण के लिए स्वतंत्र थे। शोषण-चक्र अत्यंत विषाक्त था। केन्द्रीय सल्तनत को अपने सामंतों से कर लेने के अतिरिक्त उनसे कोई और मतलब नहीं था। परिणामतः मुगल दरबार की अदबीयत तथा विलासिता सामंतो में घर करने लगी। एक रुमानी वातावरण निर्मित हुआ। शृंगार को प्रश्रय मिला। सुरा-सुराही, साकी-महफिल, चमन-बहार तथा लैला-मजनूँ वाली संस्कृति अपने सहज आकर्षण के कारण सामंती जीवन में प्रवेश करती है।

इसी पृष्ठभूमि में हिन्दी का मध्यकालीन साहित्य—विशेषतः रीतिकालीन साहित्य निर्मित हुआ। दूसरी ओर प्रेमाख्यानक परंपरा ने भी भारतीय संस्कृति को रोमांटिक हीरोइज्म का पाठ पढ़ाया था। और, तब एक विशेष प्रकार की भाषा-शैली का प्रचलन होता है, जिसमें सहजता के स्थान पर कृत्रिमता, गांभीर्य की जगह लफ्फाजी तथा अनुभूति-सत्य की जगह ऊहा घर कर लेती है। बिहारी, पद्माकर, मनिराम इत्यादि रीतिवादियों में इन प्रवृत्तियों को देखा जा सकता है। यहाँ तक कि आधुनिक काल में भी भारतेन्दु और रत्नाकर तक में ये प्रवृत्तियाँ आ ही जाती हैं। यह मैं नहीं कहता कि ये ही प्रवृत्तियाँ सार्वभौम एवं सर्वप्रधान थीं। मेरा प्रतिपाद्य सिर्फ इतना है कि ये प्रवृत्तियाँ काफी अहम थीं, इन्हें नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

गद्य की अपेक्षा कविता में ये प्रवृत्तियाँ प्रबलतर रहीं। उस काल में गद्य-शैली का तो प्रचलन ही नहीं हुआ था; दूसरे, कविता ही दरबारी संस्कृति से ऋजुत. सबद्ध थी; फलतः भारतेन्दु-पूर्व गद्य-शैली की सामंती धारा का रूप कोई विशेष नहीं

मिलता। वैसे टीकाओं की भाषा में विगलित भावुकता एवं उच्छ्‌वसित भाषा देखी जा सकती है—

(i) "नायका वचन ग्रान शपथ तिहारी है हौं आन नाहीं कहत तन शरीर मे कछु बोइ ग्रान नहीं आनत है कान्ह, सुजान तिहारो रूप जैसो मन जानत तैसो कह्यो नहीं जाते।"[१]

(ii) "किन्तु पाठकों! जरा कलेजा थामकर सुनिएगा। बाद में बेचारे नायक की अवस्था बड़ी शोचनीय हो गई है। विरमना तो दर किनार रहा, ग़रीब का नींद तक नहीं आ रही है। प्यारी का मुखचंद्र देखे बिना अँखियाँ पहले ही चकोर की तरह अकुला रही थीं, तिसपर नींद का न आना और नई मुसीबत है।"[२]

उपर्युक्त दोनों उद्धरण, यद्यपि दूसरा खड़ीबोली का है, मूल प्रवृत्ति की दृष्टि से सामंती शैली के ही हैं। दोनों में एक कृत्रिम भावुकता को स्पष्ट करने का प्रयास है। रूढ़ अलंकरण तथा हलके रोमांस स्पष्ट हैं।

भारतेन्दु ने इस भाषा-शैली का जमकर प्रयोग किया। उनके कतिपय नाटकों में काव्यगत रीति-प्रवृत्ति सुरक्षित है। भारतेन्दु वस्तुतः रीतिकाल और आधुनिक काल की सन्धिरेखा पर हैं। परिणामतः एक ओर वे रीति-प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हैं; दूसरी ओर तत्कालीन यथार्थ से भी वे अलग नहीं हो पाते। रीति-प्रवृत्ति तथा आधुनिक समस्याओं का संघर्ष—कशमकश वहाँ देखा जा सकता है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों में कौन प्रधान है। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि भारतेन्दु पर रीति-प्रवृत्ति का प्रभाव इतना प्रबल था कि उनका गद्य-साहित्य भी इससे मुक्त नहीं रह सका। पारसी रंगमंच से प्रभावित भारतेन्दु की 'चन्द्रावली नाटिका' इस दृष्टि से अध्येय है। 'चन्द्रावली' की भाषा-शैली, विषय एवं उपचार सभी सामंती धारा के अन्यतम उदाहरण हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"हाय! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक ध्यान नहीं देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ? प्यारे यह संजोग हमको तो अबकी ही बना है, फिर यह बातें दुर्लभ हो जाएँगी। हाय नाथ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगे कैसे निकालूँ! प्यारे, रात छोटी है और स्वाँग बहुत हैं। जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा। हाय! मुझ-सी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं। रात-दिन रोते ही बीतते हैं। कोई बात पूछने वाला नहीं, क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता, सब ऊपर की ही बात देखते हैं। हाय! मैं तो अपने पराए सबसे बुरी बनकर बेकाम हो गयी। सबको

---

१. कविप्रिया, सरदार कवि की टीका, शृंगार रस का वर्णन।

२. रसिकत्रय, रतिरानी (टीका) पृ०, २०६।

छोड़कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की। हाय! मैं किसकी होके रहूँ, मैं किसका मुख देखकर जिऊँ। प्यारे, मेरे पीछे कोई ऐसा चाहने वाला न मिलेगा। प्यारे, फिर दीया लेकर मुझको खोजोगे!"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में विगलित भावुकता देखी जा सकती है। विषय के अनुसार भारतेन्दु ने भाषा-शैली निर्मित की। इस प्रवृत्ति का और भी स्पष्ट रूप इसी नाटिका में अन्यत्र देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ—

"वर्षा— (हाथ पकड़कर) कहाँ चली सजि कै?—

चन्द्रा०— पियारे सों मिलन काज,—

वर्षा— कहाँ तू खड़ी है?—

चन्द्रा०— प्यारे ही को धाम है।

वर्षा०— कहा कहै मुख सों?—

चन्द्रा०— पियारे प्रान प्यारे—

वर्षा०— कहा काज है?

चन्द्रा०— पियारे सों मिलन मोहि काम है।[2]

—इत्यादि।

उपर्युक्त पंक्तियाँ यद्यपि छंदोबद्ध हैं, किन्तु वार्त्ताक्रम में वाक्यखण्डों का गद्यवत् रखा गया है। यह पारसी रंगमंच की पद्धति है। निश्चय ही भारतेन्दु उससे प्रभावित हैं। यहाँ का वातावरण सामान्य नहीं, अति नाटकीय है। तात्पर्य यह कि सामंती भाषा-शैली में विषयोपचार भी सामंती है। भारतेन्दु ने इस भाषा-शैली का प्रयोग विशेष अवसरों पर किया। अतः यह शैली उनकी मज्जागत संस्कार नहीं है।

भारतेन्दु के बाद इस गद्य-शैली का सर्वाधिक सशक्त पौरोहित्य श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने किया। वस्तुतः राजासाहब के साथ कोई अन्य शैलीकार इस दृष्टि में पांक्तेय नहीं है। राजासाहब का जीवन ही सामंती परंपरा में पला, यद्यपि इस स्थिति की तुलना कर्दम-कमल न्याय से ही की जा सकती है। इनके लिए सामंती जीवन कोई सुनी-सुनायी बात नहीं, बल्कि 'जानी-सुनी-देखी' बात है। फलतः राजासाहब इस जीवन के अन्तर्बाह्य से पूर्णतः परिचित हैं। फलतः उस जीवन का सजीव चित्र वे उतार पाते हैं। यहाँ यह भ्रम न हो जाय कि मैं राजा साहब को सामंती प्रवृत्ति का लेखक मान रहा हूँ। इनकी तो विशेषता ही यही है कि घोर जमींन्दारी वातावरण में पलने के बावजूद इनका 'इन्सान' हमेशा जागरूक रहा, इनका जमीर हमेशा ऊँचा रहा।

---

१. श्री चन्द्रावली (विश्वविद्यालय प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, नाटिका खण्ड), पृ० ३३।

२. वही, पृ० २१।

गद्य-शैली की सामंती धारा के सर्वाधिक सशक्त शैलीकार राजासाहब हैं। इन्होंने सामंती गद्य-शैली को उच्च साहित्य-परिनिष्ठा दी। इस शैली को यह ऊँचाई न तो इनके पूर्व मिली थी और न बाद में मिली। वस्तुतः इन्होंने सामंती शैली का नया संस्कार किया। इस शैली के अन्तर्गत भारतेन्दु ने जो विगलित भावुकता, ऐकान्तिक रोमांस तथा प्लैटोनिक प्रेम की अभिव्यक्ति दी थी, राजा साहब में उनका लेश भी नहीं मिलता। ये रोमांस से बहुत ऊँचे उठ आये और सम्भवतः पहली बार इस शैली को आभिजात्य साहित्य में स्वीकार किया गया। सामंती शैली में लिखित साहित्य होते हुए भी राजासाहब का विषय-क्षेत्र यथार्थ था। हाँ, यथार्थ का दर्शनीकृत रूप यहाँ अवश्य मिलता है— बाह्य की अपेक्षा 'अन्तर' पर बल अधिक है।

इनकी शैली की दो-चार बानगी लीजिए—

"बीच हॉल में महफिल सरे-शाम जम गई। राग-रंग का सिलसिला चला। जो नाचनेवाली आयी थी, वह नचाने वाली भी निकल आई। आई थी नाचने, लगी उँगलियों पर नचाने। एक-एक अदा पर मजलिस लगी झूम-झूम कर थिरकने। क्या आनबान, क्या चितवन, क्या मुस्कान, क्या तान— बस, पैमाने पर पैमाने की कैफ़ियत थी।"[१]

उपर्युक्त उद्धरण की सहज अलंकरण वृत्ति, और गतिशील चित्रमयता राजासाहब के पूर्व सामंती शैली में कहीं नहीं हैं। राजासाहब परिनिष्ठित धारा की शैली में भी लहजा बदलकर सामंती धारा की चमक ले आते है—

"आँखों की राह अपने प्रच्छन्न आन्तरिक भावों को उतार देने की जैसी सत्ता थी, वैसी अभिव्यंजना की कला तो हजार में एक को नसीब होगी शायद।"[२]

"वह भी क्या दिन थे जब अंग-अंग में जवानी कुलाँचे भरती रही। वह चुस्ती, वह फुरती तो अब बीते दिनों की धुँधली स्मृति ही रह गई। पौ फटते ही नहा-धोकर अखाड़े में दण्ड बैठक तो अपनी बँधी लीक रही उन दिनों।

उस दिन अखाड़े की कसरत से छुट्टी पाकर सामने हरी दूबों की लॉन मे बैठ पसीना पोंछता, धूल झाड़ता रहा कि लो, सामने से हमारे राजपुरोहित उपाध्यायजी आ धमके। और लीजिए, आते ही फतवा दे बैठे कि कल काशी मे गंगा-स्नान का बड़ा महात्म्य है, ऐसे शुभ अवसर जीवन में बार-बार नहीं आते, कल नहीं तो फिर नहीं— पुण्य संजोइए पाप धोइए! .... नहा-धोकर बाबा

१. 'सूरदास'।
२. 'पूरब और पच्छिम'।

विश्वनाथ का दर्शन भी रहे— इनकी कृपा से किसी की मनोकामना कभी नवारी न रही।"[१]

अन्तिम जुमले की कशिश ध्यातव्य है। लोक-शैली के प्रयोग करते समय भी राजासाहब का लहजा वही रहता है, जो परिनिष्ठित धारा में होता है—

"दूकानदार फट पड़ा— 'चल हट— तेरी ऐसी की तैसी! तेरे तो दो दो सयाने बेटे हैं, बहू है— वह क्या चूल्हा फूंक रही है, तू क्या आई सिर चढ़ने? ···कमीनी कहीं की।'

देखा, पास की झोपड़ी के साये में एक फूहर काली-कलूटी बुढ़िया बैठी हुई बोरसी ताप रही है।

'हाँ बाबू, बुढ़िया के के पूछेला? ओकरा के तो तू मुफ्ते चाहो पिलाइब।' —लगी हाथ चमका-चमका कर कहने।

फिर क्या, दूकानदार में दो-दो चोंचें चल पड़ी। इधर यह किच-किच, उधर आसमान से बूँदों की टिप-टिप।"[२]

आखिरी जुमले में जो त्वरित दृश्यान्तर है, वह राजासाहब की ही क्षमता है। वस्तुत: राजासाहब ने हिन्दी को उर्दू की वे सारी विशेषताएँ प्रदान की, जिनमें उर्दू की रवानी अद्वितीय मानी जाती है। उर्दू-शैली की तराश, उसकी कशिश, मुहावरे तथा लहजे हिन्दी में आये, इसका श्रेय एकमात्र राजासाहब को है।

सिर्फ कहानी-उपन्यासों ही में नहीं, अन्य विधाओं में भी राजा साहब ने इसी शैली का प्रयोग किया है। एक संस्मरण का कुछ अंश देखिए—

"मुझसे अक्सर लोग पूछ बैठते हैं— "आप कैसे लिख लेते हैं?"

भला इसका उत्तर मैं किस-किस को क्या और कैसे दूँ? लिख लेता हूँ बस— कोई तरह-तरन्नुम नहीं; करूँ क्या— चारा? मगर हाँ, अपनी नजर भरपूर रहती है, कहीं कलम फिसले नहीं, वह खुल-खेले।

कसूर माफ! किसी की फरमाईश पर मैं वैसा लिख नहीं पाता हूँ, अक्सर रह जाता हूँ हाथ मलकर— जी उठे तब न कलम उठे, अपने जी की, अपनी लेखनी की यह बेरुखी ही सही।"[३]

इस शैली में राजासाहब सिर्फ लिखते ही नहीं, बोलते भी हैं। वस्तुत सामंती शैली राजासाहब की मज्जानक संस्कार है।

राजासाहब ने सामंती शैली को जो साहित्यिक स्तर दिया था, वह बाद में

१. 'देव और दानव' शीर्षक कहानी, नई धारा (मार्च, १९६२), पृ० १३।

२. वही, पृ० १३।

३. 'याद आ गया अभी वह गुजरा हुआ जमाना', 'शतदल' (गया कालेज की मुख्य हिन्दी पत्रिका), जनवरी, १९६२।

सुरक्षित नहीं रह सका। साहित्य-क्षेत्र में वस्तुन्मुखी प्रवृत्ति के अप्रतिहत प्रवेश के कारण आस्था का कोण परिवर्तित हो जाता है। साहित्य की वृत्ति बदल जाती है। अब हिन्दी शैली अधिक ठोस, सादी और ऋजु होने लगी। महत्त्व लहजा का नहीं, अभिधा को मिलने लगा। फलतः सामंती शैली का विकास रुक गया।

फिर भी इस शैली का कुछ-न-कुछ जीवितांश आभिजात्येतर साहित्य मे देखा जा सकता है। चूँकि सामंती शैली को जिस उच्चतर प्रतिमान तक राजा साहब ले गये, वहाँ तक जा सकना सामान्य लेखकों के लिए संभव नहीं था। फलत हिन्दी-प्रसार के प्लावन में जो सस्ता साहित्य प्रकाश में आया, इस शैली का आभास वहीं मिल पाता है। सारांशतः सामंती शैली में भी 'वस्तु' की दृष्टि से राजासाहब ने जो परिनिष्ठा दी थी, वह सुरक्षित नहीं रह सकी।

'सस्ता साहित्य' अथवा फुटपाथीय साहित्य के दो वर्ग है—जासूसी और प्रेम-परक। जासूसी साहित्य में शैली का कोई प्रतिमान नहीं मिलता। रहस्य, रोमाच और काल्पनिक आधारों पर लिखित साहित्य में बुद्धि और आस्था का प्रश्न ही नही उठता, इसलिए कोई उच्च प्रतिमान स्थापित हो सके, इसकी संभावना ही नहीं है। प्रेम-परक एवं रोमांटिक साहित्य की भी यही गति है। वस्तुतः इस वर्ग के साहित्य ने रीतिकालीन प्रेम-अवधारणाओं को सुरक्षित रखा है। ऐसा साहित्य विषय की दृष्टि से तो दरिद्र है ही, भाषा-शैली की दृष्टि से भी पंगु है। ऐसे साहित्य ने सिर्फ एक शैलीकार—कुशवाहा 'कान्त' को उत्पन्न किया था, वह भी अपनी उपलब्धि के चरम पर पहुँचने के पूर्व ही चल बसा। इनके उपन्यासों, विशेषतः 'मंजिल', की शैली सामंती शैली का श्रेष्ठ उदाहरण है।

जो भी हो, इस शैली का ह्रास ही चतुर्दिक देखा जा सकता है। सामंती शैली का स्थान अब सिर्फ गुप्तचर, भयंकर भेदिया, कुसुम इत्यादि प्रतिमास दर्जनों प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं तथा प्रेम वाजपेयी, आमीलाल इलाहाबादी, अकरम इलाहाबादी इत्यादि दिवालिये उपन्यासकारों के उपन्यासों में ही सुरक्षित है। उदाहरण-स्वरूप ऐसे उपन्यासों का विज्ञापन उद्धृत करता हूँ—खत देखकर मजमून भाँप लेना बड़ी बात नहीं है—

"दिल एकै से लाग्यो हजारों खड़े, हो हजारों खड़े, दिल एकै से····" १५, १६ की खूब सूरत जवान छमिया, भीड़ में घूम-घूमकर नाच-गा रही थी, और हजारों दिल बेकाबू हो रहे थे।

हजारों के बीच में खड़े जगदीश ने भी उसे देखा, और देखता ही रह गया। ओफ ऐसी खूबसूरत जवान लड़की, इस तरह बेधड़क गा रही थी, वह तो देखता ही रह गया।

छम्मिया की नजर उस खूबसूरत नौजवान पर पड़ी और आँखों की भाषा आँखों ने समझ ली ।

एक ऐसे ही गरीब नाचने-गाने वाली लड़की की सुख-दुःख की कहानी, जिसे हजारों की नजरों से होकर गुजरना पड़ता था और सबका दिल रखने के लिए अपने दिल का खून करना पड़ता था ।

उसी तरह नशीला, मादक और दिलकश उपन्यास पढ़िए 'कुसुम' के अप्रैल अंक में "राही मिल गए राहों में······।"[१]

कोई विज्ञापनकर्त्ता से पूछे कि 'एक··गरीब नाचने-गाने वाली लड़की की सुख-दुःख की कहानी' में नशा, मादकता और दिलकशी कहाँ से आयी ? यह सब लफ्फाजी है । दिल, जिगर और खून के इस किस्से को हिन्दी चलचित्र ने सुरक्षित रखा है और आने वाली पीढ़ियों की नसों में यह जहर बखूबी इंजेक्ट किया है ।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि सामंती शैली को परिनिष्ठित स्तर राजासाहब के अतिरिक्त और कोई नहीं दे सका । उसके बाद यथार्थ की कटुता और वस्तून्मुखी वृत्ति ने इस शैली को स्वीकार न किया । अन्ततः सामंती शैली वृत्ति ने सस्ते साहित्य और सस्ते चलचित्रों में शरण ली । यह ह्रास का लक्षण है । आवश्यकता इस बात की थी कि इस शैली को जीवन-मूल्यांकन की शैली के रूप में स्वीकार किया जाता, जैसा कि राजासाहब ने किया है । किन्तु, अब यह धारा एक प्रकार से मृत हो चुकी है । भविष्य में शायद कोई शैलीकार जन्म ले, जो इसके ह्रास को पुनः 'स्तर' दे सके ।

---

१. 'कुसुम' मासिक पत्रिका में प्रकाशित एक विज्ञापन ।

अध्याय ७

विधा-वैविध्य : कारणभूत परिस्थितियाँ और वर्गीकरण

साहित्य (अथवा संस्कृत आलोचना-शास्त्र के अनुसार काव्य) परंपरा से अखंड माना जाता रहा है—साहित्य की वस्तु और दृष्टिकोण के संदर्भ में यह स्थापना स्वीकृति प्राप्त करती आयी है। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य-रस के विवेचन-प्रसंग में इस अखंडता वाली स्थापना को तो एक वायवीय स्तर दे रखा है।[१] यह ऊहा है। साहित्य का अखण्ड होने का अर्थ सिर्फ इतना ही है कि तात्त्विक दृष्टि से —वैसे तत्त्व जो साहित्य को शास्त्र एवं विज्ञान से पृथक् करते हैं, साहित्य के सभी रूप मूलतः एक हैं। किन्तु, फिर भी औपचारिक ही सही, साहित्य के विविध रूप हैं—प्रकार हैं। ये रूप, ये प्रकार अभिव्यक्ति की प्रणालियों के पर्यायवाची है। फिर भी यह अन्तर रूपात्मक है, गुणात्मक नहीं।

विधा-वैविध्य का अध्ययन, इसी रूपगत अन्तर का अध्ययन है। प्रश्न यह उठता है कि विधाओं का अध्ययन साहित्य से किस रूप में संबद्ध है? विधाओं के अध्ययन का सम्बन्ध साहित्य के शिल्प-पक्ष से है। विषय की दृष्टि से 'अमुक वस्तु उपन्यास की है और अमुक कहानी की', ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए विधा-निर्धारण में विषय का कोई उपयोग नहीं। विधाएँ शिल्प से निर्मित होती हैं। उपन्यास का शिल्प निश्चय ही कहानी के शिल्प से भिन्न है, वैसे ही महाकाव्य का शिल्प मुक्तक के शिल्प से भिन्न है। निष्कर्ष यह कि शिल्प अथवा रचना-तंत्र का वैविध्य, विधा-वैविध्य उत्पन्न करता है। अतः विधाओं का अध्ययन साहित्य के शिल्पगत रूपों का अध्ययन है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब विधाओं का अध्ययन शिल्पगत अवान्तरों का अध्ययन है तो फिर विधा-विशेष के अन्तर्गत विषय और दृष्टिकोण क्यों विवेच्य होता है? प्रश्न को थोड़ा और स्पष्ट किया जाय तो यों होगा कि मान लीजिए कहानी-साहित्य पर कुछ लिखा जा रहा है तो उसके अन्तर्गत कहानी-साहित्य का शिल्पमात्र ही विवेच्य होना चाहिए, अन्यथा नहीं। प्रश्न कुछ वजन रखता है,

---

१. सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्श शून्ये ब्रह्मा स्वाद सहोदरः॥
लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः"—साहित्य-दर्पण ३/२३।

पर अधिक नहीं। हमारी स्थापना है कि विधाओं का अध्ययन साहित्य के शिल्पगत रूपों का अध्ययन है। अब शिल्पगत रूपों का अध्ययन सिर्फ कलापक्ष तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। शिल्पगत मूल्यांकन के लिए यह आवश्यक है कि उसके कथ्य और रूपायन दोनों को देखा जाय। सिर्फ शिल्प कोई वकत नहीं रखता—सिर्फ इसका अध्ययन एकांगी होगा। साहित्य में कथ्य और रूपायन दोनों का समान महत्त्व है। कथ्य हमारा अभिप्रेत है और रूपायन उस अभिप्रेत के प्रकटीकरण का उपकरण। इसलिए विधाओं का अध्ययन सिर्फ तत्-तत् रचना-तंत्रों का अध्ययन नहीं, बल्कि विधाविशेष के कथ्य और रूपायन दोनों का अध्ययन है।

हम यह पहले ही कह आये हैं कि गद्य-शैली आधुनिक काल की अनिवार्यता थी। जीवन की नयी स्थितियों के खिंचाव को कविता के लिए सँभाल पाना कठिन था। जीवन की नयी स्थितियों ने ही उपन्यास को महाकाव्य का स्थानापन्न बनाया, वैसे ही कहानी पौराणिक गाथाओं, लघुकथाओं, मुक्तक इत्यादि की स्थानापन्न बनी। यह मैं नहीं कहता कि आधुनिक काल में कविता का कोई स्थान ही नहीं। स्थान है और वह भी गंभीर उत्तरदायित्व के साथ, किन्तु अपनी ऋजुता के कारण गद्य ही जनरुचि के अधिक निकट है। रुचि का प्रश्न पाठकीय प्रयत्नलाघव से सम्बन्ध रखता है।

पाठकीय रुचि में अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। सामान्य पाठक की औसत दृष्टि से कविता के पक्ष में रुचि का ह्रास हुआ है, यह स्पष्ट है। कविता की अपेक्षा गद्य और गद्य में भी उपन्यास की अपेक्षा कहानी, कहानी की अपेक्षा लघु-कथा और इसकी अपेक्षा भी छोटे-छोटे मनोरंजक चुटकुले अथवा इसी प्रकार की कोई अन्य चीज पाठकीय रुचि को अधिक आकर्षित कर सकी है। रिपोर्ताज, एकांकी यात्रा-विवरण, वैज्ञानिक आविष्कारों से सम्बन्धित रचनाएँ तथा रोमांचक रचनाएँ भी काफी प्रसार प्राप्त कर सकी हैं। कविता के क्षेत्र में भी यह रुचि-परिवर्त्तन देखा जा सकता है—प्रबन्ध-काव्यों की अपेक्षा मुक्तक की प्रधानता इसी ओर संकेत करती है।

सामान्यत: उपर्युक्त स्थितियों के कारण के रूप में जीवन की अति व्यस्तता की ओर संकेत किया जाता है; किन्तु यही यथेष्ट कारण नहीं है। मेरी दृष्टि में इस रुचि-परिवर्त्तन के मूल में जीवन की गतिशीलता एवं व्यक्ति के क्षण-अनुभव की आत्यंतिकता है। मध्यकाल की जीवन-गति की अपेक्षा आज की जीवन-गति अधिक तीव्र है। परिणामत: मध्यकाल का व्यक्ति एक क्षण में जितना कुछ करता था, आज का व्यक्ति उसकी अपेक्षा सहस्र प्रतिशत अधिक अनुभव करता है। इस गति-शीलता के मूल में सामान्य जीवन का यंत्रीकरण है। व्यक्ति की सामान्य रुचि में

इसके परिणामस्वरूप तीन विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं—

(क) रुचि-संकेन्द्रन का अभाव,

(ख) अनुभव-स्तर में शीघ्रगामी परिवर्त्तन ला पाने की तत्परता, और

(ग) अल्पतम से अधिकतम की उपलब्धि का प्रयास।

सार रूप में उपर्युक्त तीन परिणामों को ही मैंने पाठकीय प्रयत्नलाघव कहा है।

रुचि-संकेन्द्रन के अभाव के कारण ही हममें कविता की अपेक्षा गद्य की चाहत अधिक है। ऐसा इसलिए कि कविता को समझने, उसके वास्तविक अर्थ को जानने के लिए उसके शिल्प-आवरण (प्रतीक, बिम्ब, अलंकरण इत्यादि) का भेदन आवश्यक है, और इसके लिए रुचि-संकेन्द्रन एवं विशिष्ट सहृदयता आवश्यक है, जब कि गद्य के लिए इसकी उतनी जरूरत नहीं होती। इसी साम्य पर यह भी कहा जा सकता है कि उपन्यास प्रभृति अपेक्षाकृत बृहदाकार साहित्य-विधा की अपेक्षा लघु विधाओं के अध्ययन-क्रम में रुचि-संकेन्द्रन की आवश्यकता कम होती है। बृहदाकार ग्रन्थों के कथा-सूत्र, चरित्र-वैविध्य तथा वातावरण को हृदयंगम कर लेने के लिए रुचि-संकेन्द्रन आवश्यक होगा, जब कि लघु कहानियाँ, कहानी अथवा लघु वार्त्ताओं को पढ़ पाने के लिए उसकी इतनी जरूरत नहीं है।

दूसरे यह कि आज के व्यक्ति के अनुभव-स्तर में तीव्रगामी परिवर्त्तन परिलक्ष्य हैं। सिनेमा की रील की तरह दृश्य बदल जाते हैं और व्यक्ति उन सभी भागते क्षणों में अपने को जीता है—उन्हें पकड़कर अपने अनुभव का खंड बना लेना चाहता है; उनमें से कुछ को तो पकड़ पाता है और कुछ स्खलित हो जाते हैं, किन्तु वे क्षण आगे बढ़ते जाते हैं—व्यक्ति का अनुभव-स्तर भी आगे बढ़ता जाता है। सारांश यह कि आज का पाठक फ्लेशेज (Flashes) अधिक चाहता है, गहरी रोशनी जैसे उसकी दृष्टि को कुंठित कर देगी।

और, इसी का परिणाम है कि आज का व्यक्ति अपने प्रत्येक क्षण-अनुभव से अधिक-अधिक प्राप्त कर लेना चाहता है। इस अनिश्चितता के युग में—जो तीव्र प्रगतिगामिता के कारण अस्पष्ट-सा बन गया है, हम अधिकाधिक अपने अनुभव-कोष में संगृहीत कर लेना चाहते हैं। परिणामत: पाठकीय प्रयत्नलाघव का सूत्रपात होता है। यही कारण है कि उपन्यास-पत्रिकाओं की अपेक्षा, कहानी-पत्रिकाएँ और इनकी अपेक्षा भी अन्य विषयों से संयुक्त पत्रिकाएँ पाठकीय रुचि को अधिक प्रभावित कर पायी हैं। मेरे कथन से भ्रम न हो जाय, इसलिए मैं यहाँ स्पष्ट कर दूँ कि मेरी अवधारणा गंभीर अध्येताओं के संदर्भ में नहीं है—मैंने तो सामान्य पाठक-वर्ग की दृष्टि से यह बात कही है।

अस्तु, विधाओं के वैविध्य में प्रयोगशीलता का काफी स्थान रहा है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र प्रयोग का आग्रही हो, यह शुभ होता है। साहित्य और कला के

क्षेत्र में हो प्रयोग, परंपरागत साहित्य की रूढ़ धमनियों में नये रक्त का संचार करना है, जिसके अभाव में साहित्य मृत हो जायगा।

हिन्दी-गद्य-क्षेत्र में भी विधाओं की दृष्टि से काफी प्रयोग हुए हैं। गद्य-साहित्य में विधाओं के नाम पर हमें चार-पाँच विधाएँ—नाटक और उनके भेद, उपन्यास (कादम्बरी), कथा, आख्यायिका, वार्त्ता ही परंपरा से मिल पायी थी। यह स्थिति किसी-न-किसी रूप में भारतेन्दु-काल तक वर्त्तमान रही। वहीं से प्रयोग किये जाने लगे। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का प्रयोग, नाटक के क्षेत्र में महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि यहीं से 'एकांकी' के रूप में स्वतंत्र विधा का संकेत मिलने लगता है। फिर व्यक्तिगत लेख, साहित्य-समालोचना, उपन्यास (जो 'कादम्बरी' की परंपरा से भिन्न है) इत्यादि लिखे जाने लगे। बाद में नाटकों के अन्य भेद तो लुप्त हो गये, पर नये रूप भी सामने आये—समस्या नाटक, वेश्म नाटक आदि। एकांकी के रूप में एक स्वतंत्र विधा पनपी। यह एकांकी नाटक से उसी रूप में भिन्न है जैसे कहानी उपन्यास से अलग है। एकांकी का भी एक अवान्तर भेद रेडियो एकांकी के रूप में सामने आया।

इसी प्रकार उपन्यास का अवान्तर रूप लघु उपन्यासों में उभरा है। कहानी ने अपना रूप बदला है—रिपोर्ताज, रेखाचित्र, संस्मरण इत्यादि के रूपों में। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित 'एक दिन की बात', की कथाएँ संस्मरण से निकली वस्तु है। वैसे ही यात्रा-विवरण और फीचर एक-दूसरे से संबद्ध हैं। आलोचना-साहित्य की तो सर्वथा अपारंपरिक शैली एवं पद्धति ही हिन्दी में आयी। आलोचना की वर्त्तमान पद्धति वार्तिक अथवा भाष्य से सर्वथा पृथक् है। आज की आलोचना शास्त्रीय कठघरे—रस, अलंकार आदि, में बाँधकर नहीं लिखी जाती। आज की आलोचना-पद्धति में विश्लेषण एवं वैज्ञानिक तटस्थता का आग्रह अधिक है। वैसे हिन्दी में वैयक्तिक एवं प्रभाववादी आलोचना का अभाव भी नहीं है—श्री शांतिप्रिय द्विवेदी की आलोचना-पद्धति तो है ही, पर इसे अपवाद ही मानेंगे, यह मुख्य धारा नहीं है।

सारांश यह कि साहित्य-विधाओं में काफी प्रयोग हुए हैं। कुछ-एक प्रयोग तो ऐसे हैं जिन्हें निश्चित रूप से किसी विधा-विशेष में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए महादेवी के 'अतीत के चलचित्र' को लें। ये 'चलचित्र' एक ओर तो संस्मरण के निकट हैं, दूसरी ओर रेखाचित्र के समीप। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रयोग की इति अब हो गयी—साहित्य-क्षेत्र में प्रयोग समाप्त होता भी नहीं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर विधाओं का इतिवृत्त निम्नांकित होगा—
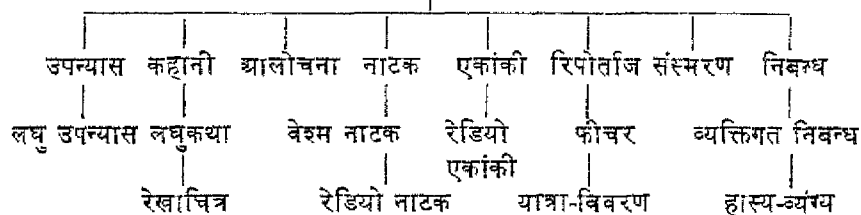
उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार उनके तत्-तत् शिल्प-विधान हैं। यह मैं पूर्व ही कह आया हूँ कि साहित्य-विधाओं में अन्तर का निर्णय शिल्प-विधान के आधार पर ही किया जा सकता है।

कुछ बातें विधाओं की अन्तर्भुक्ति के सम्बन्ध में कह देना आवश्यक है। उपन्यास और लघु उपन्यास शिल्प-विन्यास की दृष्टि से एक ही हैं। अन्तर सिर्फ आकार का है। उपन्यास मूलतः जीवन-विस्तार को लेकर चलता है, लघु उपन्यासों में भी आकार-सम्बन्धी अन्तर को छोड़कर जीवन-विस्तार का वही रूप रहता है। यहाँ हिन्दी के प्रकाशकों का अतिवैदुष्य का भी परिचय दे दूँ। राजेन्द्र यादव की रचना 'कुलटा' प्रारम्भ में 'लम्बी कहानी' के विशेषण से प्रकाशित हुई थी और वस्तुतः वह कहानी है भी। परन्तु जाने क्यों उसका प्रकाशन जब पॉकेट बुक्स सिरीज़ में हुआ तो उसका विशेषण 'लघु-उपन्यास' हो गया। ऐसी स्थिति रही तो सारी विधाएँ एक दिन गड्डमगड्ड हो जायँगी—एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति। यह शुभ नहीं है।

कहानी के अन्तर्गत लघुकथा और रेखाचित्र अन्तर्भुक्त हैं। लघुकथाएँ फ्लैशेज का निर्माण करती हैं और रेखाचित्र वस्तु का आभास मात्र देती हैं। कहानी भी वस्तु का आभास देती है, परन्तु वह आभास अपने-आप में पूर्ण होता है। रेखाचित्र सिर्फ इस बात में भिन्न है कि इस आभास में 'गैप्स' काफी रहते हैं। साथ ही अन्तर यह भी है कि रेखाचित्र अनिवार्यतः चरित्र-प्रधान होता है, जब कि कहानी के साथ ऐसी कोई सीमा नहीं है। अन्यथा जहाँ तक फ्लैशेज के निर्माण का प्रश्न है, रेखा-चित्र भी वही कार्य करता है जो कहानी करती है।

वैसे ही नाटक के नये रूप उभरे हैं, जिनमें 'वेश्म नाटक' एक नवीनतम रूप है। अँगरेजी के 'चैम्बर प्लेज' (Chamber plays) के अनुसरण पर इसकी रचना की जाती है। यह हिन्दी के लिए काफी प्रचलित नहीं है। इसकी सबसे बड़ी खूबी यही है कि इसमें साज-सज्जा की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती है। यह गोष्ठी का ही परिवर्त्तित रूप है। अन्य शब्दों में इसे वार्त्तानुमा रूपक कहा जा

सकता है। वैसे यदि इसे कोई एकांकी में अन्तर्भुक्त करना चाहे तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी।

रेडियो एकांकी, एकांकी का ही एक रूप है। और, सच पूछिए तो इधर एकांकी का विकास रेडियो के ही माध्यम से हुआ है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि एकांकी के स्पष्टत: तीन वर्ग हो गये हैं—रंगमंचीय एकांकी, रेडियो एकांकी, और वैसे एकांकी जो दोनों क्षेत्रों में सफल हैं अथवा मिश्रित एकांकी। मूल तत्व एक ही है। रेडियो एकांकी सिर्फ इस दृष्टि से भिन्न है कि रंगमंचीय एकांकी में जहाँ चाक्षुप एवं ध्वनन साहचर्य एक साथ दर्शक को मिलता है, वहाँ रेडियो एकांकी में श्रोता को सिर्फ ध्वनन-साहचर्य ही मिल पाता—तत्संबद्ध दृश्यों का मानस प्रत्यक्ष ही हो पाता है। शिल्प की दृष्टि से यह बहुत बड़ा अन्तर है, क्योंकि यहाँ एकांकीकार को सारा प्रभाव, वातावरण, चरित्र इत्यादि का सृजन सिर्फ ध्वनि के माध्यम से करना होता है। लेकिन यहाँ फिर रंगमंचीय एकांकीकार की अपेक्षा इसे यह सुविधा भी है कि पात्रों के व्यक्तित्व-निर्माण एवं अपेक्षित प्रभाव के लिए अभिनय-कला पर इसे कुछ भी निर्भर करना नहीं होता है। जो भी हो कुल मिलाकर रेडियो एकांकी फलक-शिल्प की दृष्टि से एकांकी ही है। कुछ रेडियो नाटक भी लिखे गये हैं, साथ ही बहुप्रतिष्ठित नाटकों तथा कहानियों का रेडियो रूपान्तरण भी प्रसारित होते हैं। तो, रेडियो नाटक, नाटक का ही एक अंग होगा और किसी कहानी का रेडियो रूपान्तरण रेडियो एकांकी में अन्तर्भुक्त होगा।

रिपोर्ताज, फीचर और यात्रा-विवरण, ये तीन हिन्दी की अधुनातन विधाएँ हैं। रिपोर्ताज मुख्यत: वस्तु पर टिप्पणी करता है और अनिवार्यत: वस्तु पर आधारित होता है। जैसे किसी पत्र का कोई संवाददाता किसी घटना अथवा स्थान से सम्बन्धित सूचना देता है, कुछ वैसा ही कार्य रिपोर्ताज लेखक का भी है। जहाँ यह रिपोर्ताज स्थान-सम्बन्धी एवं चित्रात्मक हो जाता है, हम उसे फीचर कहने लगते हैं। यात्रा-विवरण भी बहुत कुछ यात्रा की रिपोर्ट ही है। अन्तर इतना भर है कि यात्रा-विवरण की टिप्पणियाँ बहुत-कुछ व्यक्तिगत एवं प्रभाववादी होंगी, जब कि रिपोर्ताज और फीचर के लिए यह अनिवार्य नहीं है—ये प्राय: तटस्थ द्रष्टा की दृष्टि से ही लिखे जाते हैं। दूसरे यात्रा-विवरण अज्ञेय के 'अरे यायावर रहेगा याद' की तरह बड़ा भी हो सकता है, परन्तु रिपोर्ताज और फीचर अधिक बड़े नहीं हो सकते। स्पष्ट ही इनका पारस्परिक अन्तर ऋणात्मक है, गुणात्मक नहीं। इसीलिए रिपोर्ताज को ही केन्द्रिय विधा माना गया है।

और, अन्त में निबन्ध की बात आती है। तो, अन्तर्गत रखी गयी विधाएँ स्पष्ट ही इसकी समीपी हैं। और, यह विधा है भी बहुत पुरानी। परिणामतः शंकाओं की बहुत कम गुंजाइश है।

प्रस्तुत पुस्तक में मूलतः उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, निबन्ध और आलोचना ही विवेच्य हैं। रिपोर्ताज को छोड़ दिया गया है। ऐसा इसलिए कि यह विधा अभी उतनी सुपुष्ट नहीं है कि इसके विकास की चर्चा की जाय। वैसे अन्य विधाओं की चर्चा पृथक् से आ गयी है।

अध्याय ८

विधा-वैविध्य : उपन्यास

काव्य और नाटक की तरह उपन्यास की कोई पारम्परिक उपलब्धि हिन्दी की नहीं है। कहानी की तरह ही यह साहित्य विधा भारतीय साहित्य की विशाल परम्परा में भी १९वीं शती के उत्तरार्द्ध के पूर्व अपूर्वाशित रही। वैसे "उपन्यास आज भी गल्प (Fiction) की व्यापक श्रेणी में रखा जाता है, किन्तु आज वह नाम को ही गल्प रह गया है।"[१]

परम्परा के रूप में 'कथा सरित सागर', 'कादम्बरी', 'हर्षचरित' इत्यादि गद्य रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं जो गल्प की कोटि में आती हैं। ये सिर्फ मनोरंजन की साधन थी, साथ ही इनका महत्त्व संस्कृत साहित्य के आभिजात्य सौंदर्यबोध की दृष्टि से ही मान्य रहा। ये गल्प जीवन के यथार्थ पक्ष को अभिव्यक्त कर सकने में सर्वथा असमर्थ थे। यथार्थ की अभिव्यक्ति इनके लिए संभव भी न थी, क्योंकि संस्कृत साहित्य का उद्देश्य था आनन्द-सृजन। परिणामतः वहाँ जीवनबोध और रस-बोध में अन्तर स्वीकार्य था।

उपन्यास जीवन की जटिलता और संघर्ष से उत्पन्न ऐसी साहित्य-विधा है, जो मनोरंजन-मात्र तक अपनी अर्थवत्ता सीमित नहीं रख सकती। यह सत्य का वाहक है। सचाई यह है कि साहित्य-क्षेत्र में (विश्व-साहित्य के स्तर पर भी यह स्थापना खरी उतरेगी) उपन्यास के आविष्कार के पूर्व साहित्य जीवन को यथार्थ रूप स्वीकार ही नहीं कर पाया था। संस्कृत साहित्य में तो जीवन यथार्थ है ही नहीं। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य सामंती जीवन-गाथा है। इसलिए वहाँ जीवन की जटिलता का प्रश्न ही नहीं उठता। यह भी संभव है कि दैविक आस्था के आग्रही तद्युगीन लोक-जीवन में जटिलता ही नहीं थी। धर्म और दर्शन के आग्रह से सर्व-स्वीकृत वर्ण-व्यवस्था एवं दास-प्रथा में जकड़ा हुआ लोक-जीवन संघर्ष नहीं कर पाता था— उसमें अन्ध श्रद्धा का भाव ही अधिक रहा होगा। लोक-जीवन की इस जड़ता के परिणामस्वरूप संस्कृत साहित्य को लोकाश्रय प्राप्त नहीं हुआ। सामंतों, राजा-महाराजाओं, सम्राटों के आश्रय में पलने वाला साहित्यकार साहित्य के उदात्त तत्त्वों के तथाकथित निर्माण में ही संलग्न रह सकता है। उसे राह में उड़ती धूल

१. आलोचना, पृ० १११, इतिहास विशेषांक।

से क्या लेना-देना ! सुतरां प्राचीन साहित्य में औपन्यासिक विधा पनप नहीं सकी। फिर भी 'सरित सागर' की परंपरा को कथा-साहित्य के प्रारम्भिक प्रयास के रूप हम स्वीकार करते हैं। यद्यपि वह परंपरा रूप-विधान अथवा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से आधुनिक औपन्यासिक अर्थवत्ता के निकट नहीं है, फिर भी जीवन को विविध दृष्टिकोण से देखने में एक मूल प्रवृत्ति—किस्सागोई, वहाँ मिल जाती है। अतः प्रारम्भिक परंपरा के रूप में उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

यहाँ हम थोड़ी-सी चर्चा औपन्यासिक अवधारणा के सम्बन्ध में करेंगे। उपन्यास के प्रारम्भ में ही—यूरप के जिस सांस्कृतिक जागरण से उपन्यास सामने आये, इसके विषय साहस और प्रेम, नैतिक उपदेश एवं पौराणिक प्रसग इत्यादि थे। स्पष्ट ही उस समय की औपान्यासिक अवधारणा रोमांटिक थी—पर्याय से मनोरंजन-प्रधान थी। हिन्दी उपन्यास के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में यह अवधारणा रोमांटिक से कुछ भिन्न नहीं थी। किन्तु, मैं पूर्व ही कह आया हूँ कि उपन्यास सिर्फ मनोरंजन का साधन नहीं है। अतः यह एक प्रकार से उपेक्षित ही रहा; किन्तु बाद भी औपन्यासिक अवधारणा में परिवर्त्तन आया। इस परिवर्त्तन के लिए मुख्यत दो व्यक्ति उत्तरदायी थे—मार्क्स और फ्रायड। मार्क्स ने बाह्य जगत् पर बल दिया—मनुष्य की अर्थवृत्ति ही उसके सारे विकास के लिए उत्तरदायी है। परिणामतः मार्क्स-वादी संदर्भ में उपन्यास-सम्बन्धी अवधारणा में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर आया। सामाजिक पुनर्निर्माण, वर्ग-संघर्ष एवं समूहवाद (साम्यवाद नहीं) के आग्रह के कारण मार्क्सवाद ने साहित्य-क्षेत्र में प्रगतिवादी साहित्य का जन्म दिया। और, प्रगतिवादी साहित्य का उद्देश्य था—"...to restore its great tradition, to break the bonds of subjectivism and narrow speciali-zation, to bring the creative writer face to face with his only important task, that of winning the knowledge of truth, of reality."[१]

फ्रायडीय अवधारणा से प्रभावित उपन्यासों की एक पृथक् गति है। इस संदर्भ में संपूर्ण साहित्य ही व्यक्तित्व के उदात्तीकरण-प्रयास का प्रतिफलन है। फ्रायड के शब्दों में, "...अधिकतर कलाकार स्नायु-रोग के कारण अपनी क्षमताओं के आंशिक निरोध से पीड़ित होता है। सम्भवतः उनकी शरीर-रचना में उदात्तीकरण की प्रबल क्षमता होती है और द्वंद्व पैदा करने या न करने के कारणरूप दमनों में कुछ लचक होती हैं, पर कलाकार यथार्थता की ओर लौटने का मार्ग इस तरह पा लेता है।"[२]

---

१. *Ralfh Fox* : THE NOVEL AND THE PEOPLE, P. 68.

२. मनोविश्लेषण, पृ० ३३६।

स्पष्ट है कि फ्रायड साहित्य को उदात्तीकरण-प्रक्रिया का प्रतिफलन मानता है। वैसे साहित्य-क्षेत्र में मनोविज्ञान का स्थान प्रारंभ से अक्षुण्ण रहा है, किन्तु फ्रायड के प्रभाव के कारण साहित्य में इस मनःविशिष्टता का प्रादुर्भाव हुआ।

तीसरे यह कि यूरप के सांस्कृतिक जागरण के बाद का युग और बाद की बढती हुई जटिलता ने उपर्युक्त दोनों अवधारणाओं को स्वीकार कर लिया। उपर्युक्त दोनों अवधारणाओं ने जीवन की जटिलता की व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। परिणामतः बाद का साहित्यकार इन दोनों सिद्धान्तों को उनके ध्रुवीय आग्रह के संदर्भ में स्वीकार नहीं करता यहाँ—ये दोनों अवधारणाएं सामान्यीकृत होकर आयी। यद्यपि मार्क्सवादी दृष्टिकोण में उपन्यास बुर्जुआ सभ्यता की देन है और उसी सभ्यता ने इसे पनपने का अवसर दिया[१], फिर भी मार्क्सवादी यह दावा नहीं कर सकते कि साम्यवादी देशों में उपन्यास नहीं लिखे जा रहे हैं। वस्तुतः साहित्य-रचना को इस प्रकार वर्गीकृत करके नहीं देखा जा सकता। उपन्यास अपने सही अर्थों में व्यक्ति और उसके परिवेश के संघर्ष के कारण उत्पन्न हुआ—यह संघर्ष जितना ही तीव्रतर और जटिल होता गया, उपन्यास-साहित्य का विकास भी उसी अनुपात में हुआ और यह संघर्ष, चाहे वह समाज पूँजीवादी हो अथवा समूहवादी (Communism), सर्वत्र वर्त्तमान है और था। यह व्यक्ति के अस्तित्व का प्रश्न है, जिसे असंगतियाँ—दोनों सामाजिक पद्धतियों की, मिटा देना चाहती हैं। तब व्यक्ति उभरता है, उठता है और स्वयं अपना इतिहास निर्मित करता है। उपन्यास व्यक्ति के इसी संघर्ष का प्रतिफलन है। राल्फ फॉक्स ने कहा है कि उपन्यास व्यक्ति के समाज और प्रकृति के संघर्ष का रूपायन करता है और इसका विकास असंतुलित समाज-पद्धति में ही सम्भव है। ऐसा समाज पूँजीवादी समाज है।[२] किन्तु मेरी समझ में यह एकांगी स्थापना है। व्यक्ति का संघर्ष—समाज और प्रकृति के प्रति, सर्वत्र होना अवश्यभावी है। और, असंतुलन सिर्फ पूँजीवादी समाज में ही हो, बात ऐसी नहीं है। यह असंतुलन साम्यवादी समाज मे और भी भयंकर रूप में हो सकता है, ठीक वैसे ही जैसे खूब खाने वाला व्यक्ति भी अजीर्ण का रोगी हो सकता है।

---

१. "This Novel is the epic art form of our modern, bourgeois, society, it reached its full stature in the youth of that society, and it appears to be affected with bourgeois society's decay in our own time."—*Ralpah Fox* : THE NOVEL AND THE PEOPLE, P. 72.

२. "The Novel deals with the individual, it is the epic of the struggle of the individual against society, against nature, and it could only develop in a society where the balance between man and society was lost, where man was at war with his fellows or with nature. Such a society is capitalist society."—THE NOVEL AND THE PEOPLE, P. 74.

अतः जीवन में न सिर्फ वस्तुवादी यथार्थ का महत्त्व है, बल्कि मनःयथार्थ भी उतना ही तात्त्विक है। रूस के उपन्यासकार यदि मनोविज्ञान को आग्रहपूर्वक त्याज्य मानते हैं तो उनके पात्र और भी 'एबनार्मल' हो जायँगे; वैसे ही यदि अमरीकी उपन्यासकार दुराग्रहवश वस्तु-यथाथ को त्याज्य मानें तो उनके पात्र स्नायुतिक मात्र बनकर रह जायँगे। और, ऐसी स्थितियाँ साहित्य-क्षेत्र में आयी है।

सौभाग्यवश हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में ऐसा कोई दुराग्रह प्रबल नहीं है। बल्कि यशपाल और अश्क ने उपर्युक्त दोनों अवधारणाओं की एक सम्मिलन भूमि प्रस्तुत की है।

× × × ×

प्रेमचंद के पूर्व उपन्यासों की दो धाराएँ हैं— अनुवाद और मौलिक। कविता के क्षेत्र में जैसे छायावाद पर आँग्ल प्रभाव प्रथमतः ऋजु न होकर बँगला से आगमित है, वैसे ही उपन्यास-क्षेत्र में शुरू-शुरू में यूरपीय प्रभाव सीधे नहीं आया, बल्कि प्रारम्भिक प्रेरणा बँगला के उपन्यासों के अनुवाद के माध्यम से ही मिली। लेकिन हमारा उद्देश्य यहाँ अनुवाद-वृत्ति का विश्लेषण नहीं है। हम हिन्दी उपन्यास के विकास-सूत्रों का ही उद्‌घाटन करना चाहेंगे।

हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२ ई०) माना जाता है। किन्तु इनके पूर्व ही पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने सन् १८७६ ई० में 'भाग्यवती' की रचना की थी। जो भी हो, इन्हीं कालखंडो के आसपास हिन्दी उपन्यास की मौलिक परम्परा प्रारम्भ हुई। 'प्रथम मौलिक' किसे कहें, किसे न कहें का तर्क-वितर्क अति वैदुष्य का अपव्यय है।

प्रेमचंद-पूर्व हिन्दी उपन्यासों की चार धाराएँ हैं— सामाजिक, रोमास-प्रधान, ऐय्यारी और जासूसी। सामाजिक उपन्यासों[१] में नैतिकता और आदर्श की प्रधानता रही। सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति ये उपन्यासकार इतने सचेष्ट थे कि इनकी सर्जन-शक्ति भी सचेष्ट बन गयी। पात्रों के आरोपित आचरण, उपदेशवृत्ति और कुछ-न-कुछ आदर्श-नियमन का आग्रह इन उपन्यासों से इनकी सहजता छीन लेता है। वैसे स्वर्गीय आचार्य नलिनविलोचन शर्मा मानते थे कि उपर्युक्त सामाजिक उपन्यासों में प्रेमचंद किसी-न-किसी रूप में पूर्वाशित है। उनकी स्थापना लाला श्रीनिवास दास की ओर विशेप रूप से इंगित है। तत्कालीन समाज की सीमा की दृष्टि से इस धारा के उपन्यास उपयुक्त माने भी जा सकते हैं, किन्तु जहाँ तक उपन्यास की अर्थवत्ता का प्रश्न है, यह धारा अब सिर्फ ऐतिहासिक महत्त्व ही रखती है।

---

१. रत्नचंद प्लीडर का 'नूतन चरित्र', बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी', राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू', बालमुकुन्द गुप्त का 'कामिनी' इत्यादि।

सामाजिक उपन्यासों की ही एक धारा अपने मूल से थोड़ा हटकर चली—रोमांस-प्रधान। रीतियुगीन शृंगारिकता, प्रेमाख्यानक काव्य की असामाजिक प्रेम-पद्धति एवं साहसिक रोमांटिसिज्म इत्यादि इस धारा के विषय हैं। श्यामजी शर्मा, शिवचन्द्र भरतिया, गिरिजानन्द तिवारी, रामलाल इत्यादि प्रेमाख्यानक उपन्यासकार थे। इनका स्तर अत्यंत साधारण था। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि काव्यरीति की रूढ़ियाँ गद्य-क्षेत्र में भी आयीं और इस धारा के उपन्यासों में सुरक्षित रहीं। इस रीतिबद्ध वृत्ति में जीवन की जटिलता का आभास भी नहीं है। यत्र-तत्र सामाजिक कुरीतियों की झलक भी मिलती है तो लम्बे-लम्बे अप्रासंगिक लेखकत्व की प्रवृत्ति से आये लम्बे-लम्बे उपदेशप्रद भाषणों से उनका महत्त्व भी नहीं रह जाता। इस धारा के उपन्यासों के महत्त्व को आधुनिक हिन्दी फिल्मों की त्रिकोणिक प्रेम-पद्धति को देखकर आँका जा सकता है। ऐसा लगता है जैसे आधुनिक फिल्मों को उन्हीं रोमांस-प्रधान उपन्यासों से प्रेरणा मिली हो जिसमें न समाज है और न कला। सच पूछिए तो इस प्रकार की सस्ती चीजें एक खास पाठकवर्ग में हमेशा प्रश्रय पाती रही हैं। अंगरेजी उपन्यास-साहित्य में सस्ते रोमांसों की कमी नहीं है। हिन्दी में भी इसकी एक सुनिश्चित परंपरा है। अल्प-शिक्षित, अर्द्धशिक्षित एवं किशोरवय के पाठकों में इसकी पूछ भी खूब है। आज भी प्रेमचन्द वाजपेयी, ओमीलाल इलाहाबादी, प्यारेलाल 'आवारा', गोविन्द सिंह इत्यादि लेखकों के लेखन-क्षेत्र में प्रत्येक के तकरीबन पच्चीस-तीस-चालीस उपन्यास होंगे। पर इतना स्पष्ट है कि इनकी सामग्री बुक-स्टालीय मात्र है, साहित्यिक महत्त्व का प्रश्न ही नहीं उठता। इस वर्ग के सर्वमान्य गुरु कुशवाहाकान्त भी साहित्यिक मान्यता प्राप्त नहीं कर पाये थे।

तीसरी धारा है ऐय्यारी उपन्यासों की। कहते हैं बाबू देवकीनन्दन खत्री लिखित 'चन्द्रकान्ता सन्तति' को पढ़ने के लिए अहिन्दी पाठकों ने भी हिन्दी सीखी थी।[1] भाषा-प्रयोग की दृष्टि से खत्रीजी काफी महत्त्वपूर्ण हैं, इन्होंने हरिऔध के पूर्व ही टकसाली हिन्दी का नमूना पेश कर दिया था। परन्तु चरित्र-चित्रण, वस्तु-शिल्प आदि की दृष्टि से इनका साहित्यिक महत्त्व बहुत कम है। इन उपन्यासों के चरित्र-निर्माण की दिशाओं के प्रति राजेन्द्र यादव ने एक नया दृष्टिकोण दिया है—"भूतनाथ साधारण पात्र नहीं है। सामन्तवाद के बड़े-बड़े आदर्श राजा-महाराजाओं, प्रेमी-प्रेमिकाओं और युद्ध-द्वन्द्वों के बीच में (पन्द्रहवें भाग में) जिस पात्र के लिए स्वयं ग्रन्थकार को यह कहना पड़ा हो कि 'इस उपन्यास-भर में जैसा भूतनाथ का अद्भुत रहस्य है, वैसा किसी का नहीं।' और स्त्रियों के लिए युद्ध

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४६६ (८वाँ संस्करण)।

करने वाले पतनशील सामन्तवाद की अट्ठाइस भागों की घटनाओं के घटाटोप से मनु की तरह जो पात्र उभरकर आता है और अन्त में जो स्वयं लेखक को इतना विवश कर देता है कि वह उसकी स्वतन्त्र आत्मकथा ही लिखे—वह है मध्यमवर्ग का प्रतीक भूतनाथ। दुष्ट और महात्माओं के सपाट चरित्रों के बीच यही एक आदमी है जिसे वह बन जाना पड़ा है, जो यह कभी नहीं चाहता था। उस समय का यह पहला पात्र है जिसके अन्दर द्वन्द्व है, कचोट है।''[१] इस संदर्भ में भी इन चरित्रों को देखा जा सकता है, किन्तु यह स्थिति भी सिर्फ भूतनाथ तक ही सीमित है। अन्य ऐय्यारी उपन्यासों में भूतनाथ की चरित्रगत संभावनाओं का विकास नहीं मिलता। हाँ, इतना सत्य है कि हिन्दी के प्राथमिक ऐय्यारी उपन्यास 'तिलस्मी होशरुबा' अथवा 'दास्ताने अमीर हमजा' की परंपरा से भिन्न हैं। 'तिलस्मी होशरुबा' के ऐय्यार जहाँ कदम-ब-कदम पैगम्बरों की कृपा के आकांक्षी हैं और उन्हें यह मिलती भी है, 'चन्द्रकान्ता संतति' के ऐय्यार सिर्फ अपनी चालाकी, कौशल और शक्ति पर ही भरोसा करते हैं। आदमी की ताकत पर यह आस्था इन उपन्यासों की एकमात्र महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि इस वर्ग के उपन्यास जन-जीवन से यौगपतिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते। सारी ऐय्यारी के पीछे साहसिक प्रेम-गाथा ही वर्णित है। वैसे इन उपन्यासों के यंत्र-कौशल के सम्बन्ध में राजेन्द्र यादव की यह स्थापना भी है। श्री यादव इन्हें उगते हुए पूँजीवाद की छाया मानते हैं तथा इनकी यंत्र-प्रणाली को वैज्ञानिक युग की पूर्व सूचना स्वीकारते हैं।[२] किन्तु यह आरोपित निष्कर्ष है। यद्यपि खत्रीजी ने 'चन्द्रकान्ता संतति' की यंत्र-पद्धति को बुद्धि-संगत आधार देने की चेष्टा भी की है, फिर भी इसे भारतीय जीवन में आने वाले यंत्र-युग को पूर्वाशित करना नहीं कहा जा सकता।

इन उपन्यासो का प्राण है उत्कट जिज्ञासा, रहस्य और रोमांच। बाद मे चलकर 'स्वर्ण रेखा', 'सफेद शैतान', 'रक्त मंडल' इत्यादि में इनकी सीमा बँध गयी। सामाजिक वस्तु-सत्य प्रायः समाप्त हो गया और उपन्यास शुद्ध तिलस्मी, ऐय्यारी या जासूसी बन गये। यह चौथी धारा थी। जासूसी उपन्यासों ने सामाजिक सत्य के साथ वस्तु-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया। यद्यपि गोपालराम गहमरी ने काफी अच्छा सूत्रपात किया था, परन्तु परंपरा चली नहीं। जासूसी उपन्यास तो चरित्र-निर्माण की दृष्टि से और भी नगण्य हैं। पात्रों का अतिमानुषी और सर्वज्ञ होना इनकी मान्यता है। जासूस आज के फिल्मी हीरो की तरह सर्वत्र और सर्वदा-सर्वथा

---

१. 'हिन्दी के सामाजिक कथा-नायकों का विकास' शीर्षक लेख, आलोचना (२४), पृष्ठ २७।

२. वही, पृष्ठ २८।

अपराजित होते थे। स्पष्ट है कि ये पात्र कौतूहल-सृजन कर सके, परन्तु मनोवैज्ञानिक विश्वसनीयता का अभाव ही रहा।

सन् १९१५ ई० तक हिन्दी उपन्यास की यही स्थिति रही। सन् १९१६ मे प्रकाशित ब्रजनन्दन सहाय का 'लाल चीन' तथा सन् १९१७ में प्रकाशित मिश्र-बन्धुओं का 'वीरमणि', सन् १९१८ में प्रकाशित 'सेवासदन' की परिनिष्ठा के किंचित् अनुकूल माने जा सकते हैं। 'सेवासदन' के प्रकाशन से हिन्दी उपन्यास आधुनिक अर्थवत्ता प्राप्त कर लेता है।

प्रेमचंद भारतीय जीवन के सजग चित्रकार थे। उभरती हुई पूँजीवादी सभ्यता, उनका नगर जीवन पर प्रलंब प्रभाव तथा ग्रामीण जीवन पर तिर्यक् प्रभाव प्रेमचन्द का कथा-क्षेत्र है। युग की जटिलता और संक्रमणशीलता कलाकार के लिए उर्वर भूमि होती है। प्रेमचन्द का आविर्भाव-काल भारतीय जीवन की जटिलता का काल है। नये युग की नयी संभावनाएँ उभर रही थीं। प्रेमचन्द ने युग की असंगतियों का पूर्ण लाभ उठाया। वे निरंतर प्रयोगशील रहे। अतः 'गोदान' की उपलब्धि एक दिन की नहीं है। प्रेमचन्द का प्रयोगधर्मी कलाकार सतत जागरूक रहा। फलतः 'सेवासदन' से 'गोदान' तक भारतीय जीवन और उसकी गति-विधियों का संचित कोष बन जाता है। सन् १९१८ ई० और १९३६ तक के काल के लिए प्रेमचन्द का कथा-साहित्य भारतीय जीवन का इन्साइक्लोपीडिया है—साहित्य-कोष है।

सौभाग्य से प्रेमचन्द का सम्बन्ध दो युगों से था। एक युग उनका भोग-पक्ष था और दूसरा उनका संस्कार-पक्ष। दोनों का सफल संयोग वे कर सके। इस दृष्टि से एक और कलाकार उनके समकक्ष आता है—जैनेन्द्र। प्रेमचन्द के उपन्यासो के पात्र उपर्युक्त दोनों युगों के तनाव और संघर्ष लेकर उभरते हैं। वे भारतीय जीवन के सम्पूर्ण वातावरण को अपने उपन्यासों में समेट सके हैं। नगर और गाँव दोनो अपने यथार्थ में उभर आये हैं।

प्रेमचन्द की प्रतिभा आदर्श से यथार्थ की ओर गतिशील है, आलोचक वैसे प्रेमचंद के सम्बन्ध में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की चर्चा करते नहीं अघाते किन्तु स्थिति इससे भिन्न है। प्रेमचंद आदर्श की आस्था लेकर 'सेवासदन' में आये, किन्तु 'गोदान' तक आते-आते उनकी वह आस्था निजी जीवन और साहित्य दोनों संदर्भो मे बिखर गयी। 'गोदान' का कटु सत्य किसी भी दृष्टि से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नही है। इसे अपवाद कहना बात को टालना है। प्रेमचंद के उपन्यासों को इस दृष्टि से तीन खंडों में बाँटा जा सकता है— सेवासदन, निर्मला एवं प्रतिज्ञा; गबन प्रेमाश्रय, कर्मभूमि और रंगभूमि तथा गोदान। प्रथम कोटि के उपन्यासों के पात्र

शुद्ध रूप में मध्यवर्गीय हैं तथा इनका कथांचल भी ऐकान्तिकतः नगर है। समस्याएँ भी एकोन्मुख एवं केन्द्रित हैं। 'सेवासदन' में प्रेमचंद ने उन परिस्थितियों को उठाया जिनसे वेश्या वृत्ति को बल मिलता है और अन्त में एक आदर्शवादी निराकरण—सेवासदन की स्थापना देकर मौन हो जाते हैं। 'निर्मला' दहेज-प्रथा एवं बहुविवाह पर गहरा त्रासदिक व्यंग्य है— मध्यवर्गीय परिवार की वह त्रासदी जो अभी भी ह्रस्वमामूल घटित होती रहती है। 'प्रतिज्ञा' विधवा-विवाह की वकालत है, यद्यपि प्रेमचंद किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। यहाँ तक जो बात स्पष्ट है वह यह कि प्रेमचंद ने समाज के दुखते रगों में दो-चार को झनझना भर दिया, झिंझोर नहीं सके। 'निर्मला' में त्रासदी के माध्यम से 'शॉक ट्रीटमेंट' अवश्य दिया गया है।

यहाँ तक की अनुभव-पूँजी आगे विस्तार पाती है। यहाँ से दूसरी कोटि की सीमा प्रारम्भ होती है। 'ग़बन' कुछ हद तक पहली कोटि में ही रखा जा सकता है। पर चूँकि इसमें समस्या का विस्तार होता है, इसे दूसरी कोटि में रखा गया है। 'ग़बन' में पहली बार प्रेमचंद ने समस्याओं को अपेक्षाकृत बड़े फलक पर देखा। अब प्रेमचंद की दृष्टि सिर्फ परिवार पर ही नहीं थी, बल्कि अन्य व्यवस्थाओं की असगतियाँ भी उभर आयी थीं। पुलिस का षड्यन्त्र, भारत के राजनीतिक जीवन की एक झलक, स्वतंत्रता की कसमसाहट का संकेत इत्यादि को 'ग़बन' में उभार दिया गया। रमाकान्त मध्यवर्ग की ढुलमुलाहट का प्रतीक है। पर अब तक नगर अकेला ही था। 'प्रेमाश्रय' और 'कर्मभूमि' में पहली बार नगर के साथ गाँव भी आया। अमरकान्त नगर से गाँव की ओर जाता है, गाँव की ओर लौटो—गाँधी के इस वाक्य का संदेश लेकर। व्यवस्था के प्रति विद्रोह हुआ नगर में भी, गाँव में भी। पुरुष भी यहाँ अकेला नहीं है—अमरकान्त का साथ जालपा दे रही है। अर्थतन्त्र और अँगरेजी राजतंत्र तथा सम्मिलित शोषण के विरुद्ध विद्रोह का स्वर उभरने लगा। प्रेमचंद ने समय की नब्ज पहचानी। 'रंगभूमि' में यह पहचान और भी गहरी हुई। परन्तु प्रेमचंद की निराशा यहाँ कुछ-कुछ उभरने लगी थी। 'जानसेवक' जैसा व्यक्ति बढ़ते हुए विद्रोही कदम में कुल्हाड़ी चलाता है। वह जानसेवक 'गोदान' में 'मि० खन्ना' के रूप में जीवित है और आज स्वतंत्र भारत में भी पूँजीपतियों के वेष में उसे देखा जा सकता है। यहाँ आकर प्रेमचंद के विकास की दूसरी कड़ी पूर्ण हो जाती है।

'गोदान' अकेला ही एक कोटि का निर्माण कर लेता है। कृषक-जीवन की त्रासदी कारुणिक है—होरी के रूप में सारा गाँव पिस रहा है, एक विषमय शोषण-वृत्त में। प्रेमचंद ने इस 'महाजनी सभ्यता' की असंगतियों को समझ लिया था। ये असंगतियाँ एक थीं—क्षेत्र चाहे नगर हो या गाँव—गोबर दोनों जगह शोषित होता

है। डा० मेहता की उदासीनता, बुद्धिजीवियों की उदासीनता है। सत्य को उसकी नग्न निर्ममता में ही प्रेमचंद ने उधेड़ दिया। यहाँ विद्रोह नहीं है—मि० खन्ना के प्रति श्रमिकों को विद्रोह को छोड़कर एक मूक वेदना है। गोदान शब्द का व्यंग्य और यथार्थ की कटुता कचोटती है। एक तिलमिलाहट है। सन् १९३६ ई० में सिर्फ यह तिलमिलाहट ही शेष थी। यद्यपि भावी संभावनाओं के प्रति सभी आस्थावान् थे, डा० मेहता और मालती इसी आस्था को लेकर बेलारी आते हैं। रायसाहब भी अपने पतन से अनभिज्ञ नहीं। तात्पर्य यह कि यह सत्य ही सत्य है। यह हिन्दी का दुर्भाग्य है कि सन् १९४२ ई० की आग को वाणी देने के लिए प्रेमचंद जीवित नहीं रह सके। फिर भी प्रेमचंद ने व्यक्ति का सामाजिक धरातल पर, जो प्रयोग किया वह हिन्दी उपन्यास-साहित्य की सबसे ऊँची ऊँचाई है—यशपाल के 'झूठा-सच' के प्रकाशन के पूर्व काल तक।

प्रेमचंद के उपन्यासों में व्यवस्था के प्रति सिर्फ व्यक्ति ही प्रतिक्रिया नहीं करता, बल्कि पूरा का पूरा समाज ही प्रतिक्रिया करता है। व्यक्ति वहाँ बहुत कुछ मौन है, वह प्रतीक बनकर आता है—होरी व्यक्ति ही नहीं प्रतीक भी है। यहाँ प्रतिक्रिया का धरातल पूरी की पूरी व्यवस्था है।

प्रेमचंद में आकर उनके पूर्व की दो धाराएँ मनोरंजन और सत्य 'समाविष्ट हो गयीं।' 'कायाकल्प' रहस्य को प्रश्रय देता है—यह भी पूर्ववर्त्ती धारा है।

प्रेमचंद के युग में ही उनकी आस्था-व्यवस्था का धरातल, के प्रति अनास्था जैनेन्द्र में अभिव्यक्त हुई। यहाँ से हिन्दी उपन्यास में मनोवैज्ञानिक धारा का सूत्रपात होता है। किन्तु यहाँ इतना स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जैसे प्रेमचंद मे मार्क्सवादी साध्यों का अनुकरण नही वैसे ही जैनेन्द्र में मनोविश्लेषण अथवा मनोवैज्ञानिक साध्यो के प्रति आग्रह नहीं है। यद्यपि जैनेन्द्र की व्यक्ति-केन्द्रीयता के कारण मनोविश्लेषण का भ्रम होता है, किन्तु जैनेन्द्र अनुकारक नहीं, अनुभावक हैं और अनुभावक के लिए लीक पर चलना आवश्यक नहीं।

जैनेन्द्र प्रेमचंद से बिल्कुल अलग है। प्रेमचंद के गाँव, खलिहान, किसान, मजदूर में जैनेन्द्र की कोई रुचि नहीं है। जैनेन्द्र का कथांचल पूँजीवाद की असंगतियों से तथा पाश्चात्य चमक-दमक और भारतीय संस्कार के तनाव से उत्पन्न बुद्धिजीवी वर्ग की कसमसाहट, उसकी गलियाँ, उसका विघटनशील परिवार तथा उसका स्वयं नपुंसकी विद्रोह है। जिस प्रकार जैनेन्द्र का मध्यवर्गी विद्रोह नहीं कर पाता, छटकर रह जाता है (सुनीता, कल्याणी) वैसे ही अज्ञेय का ढिंढोरा पीटने वाला मध्यवर्गी (शेखर) नखटूटे सिंह के समान परिस्थितियों की जकड़न में तड़पकर रह जाता है। विद्रोह की आकांक्षा है (कल्याणी), किन्तु शक्ति नहीं है। यह सीमा लेखक की नहीं युग की है। व्यवस्था में पिसती हुई जन-चेतना प्रेमचंद में हुंकार

कर उठी थी, किन्तु 'टिपिकल' मध्यवर्गी होने के नाते, जिसका स्वभाव ही है समझौता करना, बुद्धिजीवी वर्ग उठ नहीं पाता। आवश्यकता यह थी कि जन-चेतना के हुंकार और बुद्धिजीवी वर्ग की बौद्धिक शक्ति का सम्मिलन होता—इस कार्य को यशपाल ने पूरा किया।

तो, जैनेन्द्र ने मध्यवर्ग की कुंठाओं को वाणी दी। जैनेन्द्र की इकाई व्यक्ति है और परिवार उसका प्रयोगस्थल। यहाँ से हिन्दी उपन्यास का एक महत्त्वपूर्ण मोड़ प्रारम्भ होता है— 'स्व' की खोज का मोड़। बाह्य जगत् का अन्वेषण प्रेमचन्द ने पूरा किया था (अपने समय तक), अन्तर का अन्वेषण शेष था, जिसका बीड़ा पहले-पहल जैनेन्द्र ने उठाया। भारतीय राजनीति, अर्थतंत्र, नयी सभ्यता और पुराने संस्कार की संधिवेला में यह अनिवार्य भी था। कविता के क्षेत्र में जो कार्य छायावाद कर रहा था गद्य-क्षेत्र में वही कार्य जैनेन्द्र के उपन्यास कर रहे थे।

इनके पूर्व ही प्रेमचन्द के अनुकरण में विश्वम्भरनाथ 'कौशिक' आ चुके थे। आचार्य शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' भी इसी वर्ग में आती है। वैसे आलोचक इसी उपन्यास से आंचलिक उपन्यासों की परंपरा भी जोड़ते हैं।

जयशंकर 'प्रसाद' एक नयी परंपरा का सूत्रपात 'कंकाल' में कर गये थे। यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और साम्यवादी यथार्थवाद के रूप 'कंकाल' में मिल जाते हैं— यह रूप उपचार मात्र नहीं है, बल्कि चेतना की सतह तक उसे देखा जा सकता है।

इसी समय उग्र अपने 'प्रकृतवाद' को रूप दे रहे थे, जिसके कारण उन्हें 'घासलेटी साहित्यकार' की लांछना भी सहनी पड़ी। किन्तु साहित्य में 'श्लील-अश्लील' का प्रश्न उठना कोई बहुत महत्त्व नहीं रखता। महत्त्व है उस तथा-कथित 'अश्लीलता' के पीछे सोद्देश्यता का। उग्र में वह सोद्देश्यता, निर्मम शल्य-क्रिया और पकड़ काफी मात्रा में वर्तमान है। उग्र का अपरिहार्य व्यक्तित्व जो कुछ दे सका है, वह अपने-आप में काफी महनीय है। हाँ, यह सत्य है कि उग्र की प्रेरण पाकर जो साहित्य (!) 'चिनगारी प्रकाशन' से निकले उनमें न तो गहरी दृष्टि है और न वह सोद्देश्यता है। वह साहित्य के नाम पर प्रोनोग्राफी (कोक साहित्य) है।

ढुलमुल एवं नपुंसकी नायकों के जन्म देने में अज्ञेय अग्रणी है। 'शेखर—एक जीवनी' का शेखर और 'नदी के द्वीप' का चेतन दोनों निरुद्देश्य प्रतिक्रिया करने वाले और प्रतिक्रिया को पचाने वाली भयंकर जठराग्नि रखने वाले चरित्र हैं—जिनका बहुनायकत्व ही उपन्यासों में उभरा है। संभव है ये घटनाएँ सत्य हों, किन्तु नायिकाओं का नायकों के प्रति अनिवार्य आकर्षण रूमानी प्रवृत्ति के अतिरिक्त और

कुछ नहीं। यहाँ स्वर्गीय आचार्य नलिनविलोचन शर्मा के कुछ वाक्य उद्धृत कर देना ही अलम् होगा— "···अज्ञेय ने 'शेखर, एक जीवनी' में कुछ फ्रायड, क्राफ्ट-एबिंग, हैवेलाक एलिस और कुछ लारेंस से अनेक उपादान लेकर कोनराड को प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली का उदाहरण उपस्थित किया। 'अज्ञेय' इस उपन्यास में न तो प्रत्यग्दर्शन प्रणाली के कठिन स्थापत्य का निर्वाह कर पाते हैं, न उपन्यास के मुख्य-पात्र के प्रति निर्लिप्तता का। ···· 'नदी के द्वीप' चेतन के प्रवाह का रूपान्तर है। 'नदी के द्वीप' हिन्दी का एक उल्लेख्य मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। जिस डी० एच० लारेंस की कविताएँ कण्ठस्थ और समय-असमय उद्धृत करते 'नदी के द्वीप' के पात्र थकते नहीं, यदि उसकी स्पष्टवादिता का शतांश भी अज्ञेय में होता तो वे हिन्दी के लारेंस कहलाने के अधिकारी होते··"[१]

'अज्ञेय' का सद्य.प्रकाशित अस्तित्ववादी उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' मे दार्शनिकता का वही सैलाब है, जो उनके पहले के उपन्यासों में वर्त्तमान था। मौत का साक्षात्दर्शन और उसमें व्यक्ति का स्व-केन्द्रित अस्तित्व-रक्षा का प्रयास उपन्यास का मूल है। और, जहाँ तक इस तथ्य के विश्लेषण का प्रश्न है वह तो ठीक है, किन्तु सेल्मा की अन्तिम परिणति छिन्नसूत्री बन गयी है। पता नहीं अन्त तक आते-आते 'अज्ञेय' अपने पात्रों की संभावनाओं को सँभाल क्यों नहीं पाते। संभव है उन पात्रों के उबा देने वाले वातावरण से वे स्वयं ऊब उठते हों।

इलाचन्द्र जोशी 'अज्ञेय' की अपेक्षा अधिक पारिभाषिक और मनोविश्लेषण से आबद्ध हैं। 'प्रेत की छाया' और 'जिप्सी' के चरित्र मनोविश्लेषण के साध्यों के अनुकूल क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' इन सभी में अधिक संतुलित हैं। 'गिरती दीवारें' का यथार्थवाद सर्जिकल है, किन्तु 'गर्म राख' में प्रकृतवादी हो उठे हैं, जो ह्रास का लक्षण है।

इनके अतिरिक्त भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा और वृंदावन लाल वर्मा इस विकास-चक्र के प्रमुख शिल्पी हैं। इनमें वाजपेयीजी जैनेन्द्र की भावुकता के अनुकरण में भी असफल रहे। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' ही एकमात्र उल्लेखनीय है और उसके बाद 'भूले बिसरे चित्र' जिसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। वृंदावन लाल वर्मा एक पृथक् औपन्यासिक परिनिष्ठा के अधिष्ठाता माने जा सकते है। जिस परंपरा का सूत्रपात मिश्रबन्धुओं ने 'वीरमणि' से किया था, उसका श्री वर्मा ने बृहत् विस्तार दिया। ऐतिहासिक उपन्यासों को साहित्यिक स्तर देने का श्रेय श्री वर्मा को है। इस धारा को सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठापित किया आचार्य चतुरसेन शास्त्री और रांगेय राघव ने। आचार्य शास्त्री की

---

१. आलोचना, इतिहास विशेषांक, पृ० ११८।

'वैशाली की नगरवधू' और रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला' भारतीय संस्कृति के व्यापक विस्तार का गाथा है।

राजा राधिकारमण सिंह प्रेमचंद के पूर्व से आज तक लिखते आये। सामंती जीवन के विविध पहलू, उनके उपन्यासों में उभर आये हैं। दर्शन और अध्यात्म को जीवन की कसौटी पर परखने वाले राजा साहब अपने क्षेत्र में अकेले हैं। राम-रहीम, जानी-सुनी-देखी सिरीज के उपन्यास, पूरब और पश्चिम, चुम्बन और चाँटा इत्यादि सत्य घटनाओं के औपन्यासिक स्थापन हैं। कथा की विश्वसनीयता, चरित्र-चित्रण की सहज प्रक्रिया, भाषा-शैली की तराश तथा शिल्प की अनवधानता आदि राजा साहब की निजी उपलब्धियाँ है। यह सत्य है कि राजा साहब ने किसी समस्यापूर्ति के लिए उपन्यास नहीं लिखे, बल्कि इन्सान को उसके इन्सानी जामे में ही देखा, फिर भी उनके उपन्यासों में उनका अपना सुदीर्घ जीवन प्रतिबिम्बित हो उठा है—वह जीवन जिसने अँगरेजी राज्य को भी देखा, सांस्कृतिक तनाव का भी अनुभव किया, स्वतन्त्रता की तिलमिलाहट भी अनुभव की और जो अनवरत इन सारी स्थितियों मे जीया है। फिर भी राजा साहब ने आवश्यक तटस्थता बरती है, जो किसी भी उपन्यासकार के लिए वरेण्य है। प्रेमचंद और राजा साहब के उपन्यासों को मिलाकर तद्युगीन भारतीय जीवन को उसके आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।

यहाँ तक हिन्दी उपन्यास का दूसरा विकास-चक्र समाप्त होता है। विकास-चक्र का तीसरा स्तर बहुमुखी विकास लेकर चला और इसी बहुमुखता के कारण काफी अरसे तक प्रेमचंद की गहराई नजर नही आयी। इस चक्र की कालावधि स्वातंत्र्योत्तर-संक्रमण से आज तक मानी जा सकती है। इस अवधि में हिन्दी उपन्यास की तीन मुख्य धाराएँ हैं—मध्यवर्ग की संभावनाओं का मूल्यांकन, आंचलिकता तथा आधुनिक भारत का ऐतिहासिक मूल्यांकन।

मध्यवर्ग की संभावनाओं का मूल्यांकन करने वालों में राजेन्द्र यादव अग्रणी हैं। 'प्रेत बोलते हैं' में तो राजेन्द्र यादव उभर नहीं पाये थे, किन्तु बाद में 'अँधेरे बद कमरे' में इनकी प्रतिभा स्पष्ट हो आयी है। मध्यवर्ग की तल्खी, उसकी विवशता और घुटन, उसका प्रयत्नशील जीवन ये सभी इस वर्ग के उपन्यासों के उपजीव्य हैं। इस क्षेत्र में मोहन राकेश, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि अन्य हस्ताक्षर हैं।

इसी वर्ग के अन्तर्गत शुद्ध मध्यवर्गीय धरातल से थोड़ा हटकर, जीवन के परिप्रेक्ष्य में नयी उत्पन्न व्यवस्थाओं के मूल्यांकन के प्रयास भी हुए। अमृतराय, लक्ष्मीकान्त वर्मा, धर्मवीर भारती, कमल शुक्ल इत्यादि इस ओर प्रयोगशील हैं। इनमें धर्मवीर भारती का हिन्दी का सर्वप्रथम प्रतीकात्मक उपन्यास (सूरज का सातवाँ घोडा) रचना तथा गहरे व्यंग्य के उत्पादन की दृष्टि से उल्लेख्य है। लक्ष्मीकान्त

वर्मा की 'खेली कुर्मी की आत्मा' भी हिन्दी का दूसरा प्रतीकात्मक उपन्यास है, जिसमें 'कुर्मी' का भोक्तृत्व एक सशक्त चरित्र की दृष्टि से अछेद्य है। कुर्मी के भोक्तृत्व में युग की विषमताएँ और असंगतियां उभर आयी है।

आंचलिकता का प्रश्न सर्वप्रथम फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल' के प्रकाशन से उठा, यह इसलिए भी कि इस उपन्यास के पूर्व किसी भी उपन्यास के सम्बन्ध में 'आंचलिक उपन्यास' का विशेषण नहीं दिया गया था। अंचल-विशेष की जीवन-पद्धति पर लिखे गये उपन्यास आंचलिक उपन्यास कहे गये, जिनके सम्बन्ध में ग्रामीण अंचल की सीमा ही शुरू-शुरू में स्वीकार की गयी था। बाद में दृष्टि-सीमा का विस्तार हुआ और शहर के किसी अंचल-विशेष की जीवन-पद्धति पर लिखे गये उपन्यास भी आंचलिक उपन्यास के अन्तर्गत माने जाने लगे। 'मैला-आँचल' के प्रकाशन के बाद ही इस धारा की परंपरा आचार्य शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' से जोड़ी गयी। नागार्जुन (बाबा बटेसरनाथ), अमृतलाल नागर (बूँद और समुद्र), उदयशंकर भट्ट (सागर, लहरें और मनुष्य), शैलेश मटियानी (बोरीवली से बोरीबंदर तक आदि), धर्मवीर भारती (सती मैया का चौरा) इत्यादि के सशक्त हस्ताक्षर इस धारा में अन्तर्भुक्त हुए। नागार्जुन अपने निर्मम शल्य-क्रियात्मक व्यंग्य की दृष्टि से अकेले हैं—इनके दो टूक व्यंग्य अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। 'नागर' तटस्थ द्रष्टा की तरह मूल्यांकन करते हैं, उदयशंकर भट्ट यद्यपि चले थे मछुआहों के जीवन पर लिखने, किन्तु शहरी संस्कार छूट नहीं सका, शैलेश मटियानी के उपन्यास कटु सत्य को और भी कटु रूप में अभिव्यक्त करते हैं। सती मैया का चौरा स्वतंत्रता के के बाद गाँवों में उठ आने वाली दलबंदी पर अच्छा व्यंग्य है।

इन आंचलिक उपन्यासकारों में सर्वाधिक सशक्त हैं 'रेणु' और शैलेश मटियानी और इनसे भी सशक्त व्यक्तित्व है देवेन्द्र सत्यार्थी का। सत्यार्थीजी के उपन्यासों में लोक-जीवन और गीतों की लचक और भीगी धरती की सोंधी महक उभर कर आयी है।

तीसरी धारा में तीन व्यक्ति प्रमुख हैं—भगवतीचरण वर्मा, मन्मथनाथ गुप्त और यशपाल। वर्माजी का 'भूला बिसरा चित्र' एक परिवार की तीन पीढ़ियों का इतिहास है। इन तीन पीढ़ियों का भोक्तृत्व-पक्ष क्रमशः स्वातंत्र्येतर भारत, स्वतंत्रता के लिए जूझता भारत और स्वातंत्र्योत्तर भारत के जीवन से संबद्ध है। इन तीन पीढ़ियों के माध्यम से उपर्युक्त संदर्भों में मध्यवर्गीय परिवार की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया जा सकता है। इसकी धारावाहिकता भारतीय जीवन के विकास की दिशाओं को स्पष्ट करती है। मन्मथनाथ गुप्त ने स्वतंत्रता-आन्दोलन-सम्बन्धी अपने अनुभवों को उपन्यास-शृंखला में बाँधना शुरू किया है। इन शृंखलाओं के पात्र एक ही नहीं हैं। विविध पात्र हैं और इनका अनुभव तथा अनुभव-स्तर भी

वैविध्यपूर्ण है। किन्तु श्री गुप्त अपनी साइको-सेक्सुअल वृत्ति के कारण काफी हद तक बहक गये हैं। फलतः युग का अभीप्सित चित्र संश्लिष्ट रूप में नहीं मिलता बिखर जाता है।

'गोदान' के बाद हिन्दी-उपन्यास-क्षेत्र में वह विराटता और 'प्रौढ़ि प्रकर्ष' यशपाल के 'झूठा-सच' में देखा जा सकता है। देश के बँटवारे के कुछ पूर्व से लेकर सन् १९५८-५९ ई० तक का भारतीय जीवन अपने 'झूठे प्रतीत होते हुए सत्य रूप' में आकलित है। यशपाल यहाँ काफी तटस्थ हैं। प्रेमचंद की पैनी दृष्टि, गहरी पकड़ एवं समस्यामूलकता जैसे फिर से उदाहृत हो आयी है। 'झूठा-सच' का मर्म-व्यंग्य, वर्त्तमान शासकीय वर्ग की असंगतियाँ, राजनीति की अराजकता एवं पैरासाइटिक वृत्ति, पाखंड, सभी कुछ यहाँ इतिहास की अपेक्षित सचाई के साथ उभर आये हैं। प्रेमचंद ने जन-जीवन की जिस निराशा को 'गोदान' में वाणी दी थी, गाँधी का स्वर्णिम स्वप्न—स्वतंत्र भारत—में वही निराशा एक बार फिर घर कर गयी है। यशपाल ने जन-मानस की इस निराशा को वाणी दी। तथाकथित जनसेवी नेता 'झूठा-सच' में अपने मुखौटे को उतरा हुआ पाता है और पाठकवर्ग अपनी विवशता का कटु रूप देखकर तिलमिला उठता है। वस्तुतः 'तारा' के रूप में हिन्दी उपन्यास को 'होरी' के बाद दूसरा इतना सशक्त चरित्र मिला।

इन सारे ऊहापोहों से पृथक् दो व्यक्तित्व उभरते हैं—स्वर्गीय महापंडित राहुल सांकृत्यायन और आचार्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के। राहुलजी का कथा-साहित्य इतिहास की भौतिक धाराओं की अपेक्षा संस्कृति की अन्तःसलिला को अधिक प्रश्रय देता है। राहुलजी पुरातत्त्ववेत्ता थे और तदुपलब्ध उनका वैदुष्य उपन्यासों में भी अभिव्यक्त होता है। डॉ० द्विवेदी की 'वाणभट्ट की आत्मकथा' भाषा, शिल्प और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों में परिगण्य है—एक मीलस्तम्भ की तरह। सांस्कृतिक मूल्यांकन तथा मानव-मूल्यों के विकास की दृष्टि से स्व० डॉ० रांगेय राघव का 'महायात्रा' उल्लेख्य कृति है।

× × × × ×

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत हुआ, शिल्प के नये प्रयोग हुए, किन्तु एक बात जो स्पष्ट है वह यह कि आस्थावादी स्वर का अभाव ही रहा। संक्रमण-काल में वह संभव भी नहीं है। भारतीय जीवन जिस आर्थिक, राजनीतिक एवं जीवन-पद्धति के संक्रमण से गुजर रहा है, उसमें यह न तो संभव है और न अपेक्षित। पर हिन्दी उपन्यास की संभावनाएँ अत्यंत सशक्त हैं। 'गोदान' और 'झूठा-सच' की उपलब्धियाँ हिन्दी उपन्यास को विश्व-साहित्य के स्तर पर ले आती हैं।

अध्याय ९

विधा-वैविध्य : कहानी

अपने वर्त्तमान अर्थबोध में हिन्दी-कहानी, उपन्यास तथा कतिपय अन्य साहित्य विधाओं की तरह पाश्चात्य-साहित्य की देन है, ऐसा स्वीकार करने में कोई सकोच नहीं होना चाहिए। यह उपस्थापन, हिन्दी-साहित्य ही क्यों, कदाचित् समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य के सम्बन्ध में भी सिद्ध होगा—देर-सवेर की बात दूसरी है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय-साहित्य में 'कहानी' का कोई रूप नहीं था—रूप अवश्य थे और अपने-आप में उन रूपों के समृद्ध साहित्य भी उपलब्ध है, किन्तु हिन्दी-कहानी की वर्त्तमान अर्थवत्ता अपना रक्त-सम्बन्ध प्राचीन कथा-साहित्य से कदाचित् नहीं जोड़ पाएगी। इसके कारण हैं।

संस्कृत-प्राकृत में कथा-साहित्य के दो रूप मिलते हैं—आख्यायिका और कथा। संस्कृत में आलंकारिकों ने इन दोनों का प्रयोग एक निश्चित काव्य-विधा के रूप में किया है। भामह (छठी शती) ने सुन्दर गद्य में लिखी हुई सरस कहानी वाली रचना को आख्यायिका कहा है। वह उच्छ्वासों में विभक्त होती है। बीच-बीच में वक्त्र और अपरवक्त्र छंद आ जाते हैं। नायक स्वयं अपनी कथा कहता है तथा यथा-अवसर भविष्यत् अर्थ का निरूपण भी होता है।[१] आख्यायिका यथासंभव संस्कृत-भाषा में ही लिखी होती थी। कथा इससे ईषत् भिन्न होती थी। इसमें वक्त्र अथवा अपरवक्त्र छंदों का प्रयोग नहीं होता था। कथा में उच्छ्वास संज्ञक विभाजन का अभाव होता था तथा कथानक नायक द्वारा कथित न होकर किन्हीं दो अन्य व्यक्तियों के वार्त्तालाप-क्रम में कथित होता था।[२] कथा के लिए भाषागत बंधन भी नहीं था। कालान्तर में यह अल्प अन्तर भी समाप्त हुआ और ७वीं शती में दण्डी ने कथा और आख्यायिका में कोई भेद स्वीकार नहीं किया।[३]

---

१. प्रकृतानुकूल श्रव्य शब्दार्थ पद वृत्तिना।
गद्येन युक्तो दात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता॥
वृत्तम् आख्यायते तस्यां स्वचेष्टितम्।
वक्त्रं चापरवक्त्रञ्च काले भाव्यार्थशंसि च॥
—काव्यालंकार, १/२५-२६।

२. न वक्त्रा परवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि।
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा'' ॥ —काव्यालंकार १/२८

३. तत् कथा आख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यान जातयः॥— काव्यादर्श १/२८

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश तथा आदि-मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में कथा वाला रूप ही प्रचलित रहा। आख्यायिका की अपेक्षा कथा में कल्पना की गुंजाइश अधिक है, संभवतः इसीलिए 'कथा' को अधिक प्रश्रय मिला। कथा लिखे जाने के तीन रूप थे — (i) गद्य में, (ii) पद्य में, (iii) गद्य-पद्य में। रुद्रट (९वीं शती) के अनुसार केवल संस्कृत में लिखी जाने वाली कथाओं में गद्य-निबद्धता अनिवार्य थी, अन्य भाषाओं में निबद्ध कथाएँ पद्य (या गद्य-पद्य मिश्रित) में लिखी जा सकती थीं। काव्यालंकार की टीका में नमिसाधु ने 'अन्य भाषाओं' का तात्पर्य स्पष्ट कर दिया है जिसमें पद्यमय रचना की जा सकती थी।[१] ये भाषाएँ थीं प्राकृत अथवा अपभ्रंश।

रुद्रट ने कथा सम्बन्धी अपने लक्षण सम्भवतः प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं के आधार पर ही निर्धारित किए होंगे, क्योंकि प्राकृत में गद्य-पद्य मिश्रित एवं अपभ्रंश में पद्य-निबद्ध कथा लिखी गई। नमिसाधु ने अपनी टीका में 'गाथा' का भी उल्लेख किया है। यह गाथा कथा और आख्यायिका से सिर्फ इसलिए भिन्न है कि गाथा में ऐतिहासिक-विश्वसनीयता अनिवार्य थी—नायक ऐतिहासिक पात्र ही होता था।

अस्तु। हिन्दी के आदिकालीन तथा भक्तिकालीन साहित्य के 'चरित-काव्य' प्रायः कथा के नाम से अभिहित किए गए हैं और वे पद्यबद्ध हैं।[२] इन परवर्ती कथा अथवा 'काहणी' पर भामह द्वारा निर्दिष्ट लक्षण प्रायः घटित होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय-सहित्य में 'कहानी' के जो तथाकथित रूप मिलते हैं, वे परवर्ती हिन्दी-साहित्य में गद्य-क्षेत्र की अपेक्षा पद्य-क्षेत्र में स्वीकृत हुए, जिसमें कथा के लक्षण मात्र ग्रहण किए गए—अन्य वृत्त-प्रसंग महाकाव्यात्मक ही रहे। कथा-आख्यायिका की परंपरा पद्धति, प्रयोग एवं दृष्टिकोण की दृष्टि से हिन्दी में सर्वाधिक भिन्न रूप में आई। वर्तमान हिन्दी-कहानी उससे अपना वंशानुक्रम स्थापित करने में अपने को असमर्थ समझती है।

---

१. अन्येन प्राकृतादिभाषान्तरेण तु अगद्येन गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात्।

२. प्रायः सभी चरितकाव्य कथासंज्ञक हैं। कथा का व्यवहार स्पष्टतः दो अर्थों में हुआ है। एक तो साधारण कहानी के अर्थ में और दूसरे अलंकृत काव्यरूप के अर्थ में। साधारण कहानी के अर्थ में तो पंचतंत्र की कथाएँ भी कथा हैं, महाभारत और पुराणों के आख्यान भी कथा हैं और सुबन्धु की वासवदत्ता, बाण की कादंबरी, गुणाढ्य की वृहत्कथा आदि भी कथा हैं। किन्तु विशिष्ट अर्थ में यह शब्द अलंकृत गद्य-काव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।....चरितकाव्य को कथा कहने की प्रणाली बहुत बाद तक चलती रही। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' 'चरित' तो है ही कथा भी है। उन्होंने कई बार इसे कथा कहा है। विद्यापति ने अपनी छोटी सी पुस्तक को काहाणी या कहानी (कथानिका) कहा है—पुरिस काहाणी हउँ कहउँ। रासो में भी कई बार उस काव्य को 'कीर्ति कथा' कहा गया है।"

—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-साहित्य का आदिकाल (प्रथम संस्करण), पृ० ५७-५८

अतः ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी-कहानी का परंपरा-सूत्र बहुत दूर तक अतीत-संदर्भ में नहीं खींच सकते ।

फिर भी हम उन प्राचीन कथारूपों के दो दृष्टियों से ऋणी हैं— विषय और सांस्कृतिक विरासत । उनमें पौराणिक आख्यान भी हैं, नैतिकता और लोकचातुरी तथा धर्म और भक्तितत्त्व से समन्वित रचनाएँ भी हैं । प्रेमचंदयुगीन आदर्शवादिता तथा प्रसाद की प्रेम-पद्धति निश्चय ही भारतीय आत्मा से संबद्ध है । आदर्शप्रियता और नैतिकता तथा संस्कृति की दृष्टि से आधुनिक कहानी-साहित्य अधिकांशतः परंपरामुक्त है । वैसे विषय का काफी विस्तार और वैविध्य भी दृष्टिगत होगा । आगे ये बातें और भी स्पष्ट होंगी ।

निष्कर्ष यह निकला कि कविता और नाटक की तरह हिन्दी-कहानी को कोई बहुत समृद्ध परंपरा नहीं मिली । फिर भी प्राचीन कथा-रूपों से हम उतने ही प्रभावित हैं जितने पाश्चात्य कथा-साहित्य से । यह सत्य है कि हिन्दी-कहानी भारतीय चिन्ताधारा की एक नई और मौलिक कड़ी है, साथ ही नई मनःस्थितियों का प्रतिफलन भी, पर काफी अरसे तक प्राचीन संस्कार से यह मुक्त नहीं हो सकी । यही संस्कार-बंध वह कशिश थी जिसने हिन्दी-कहानी को पाश्चात्य कथा-साहित्य के अनूदित उपकरण होने से बचाया । पाश्चात्य कथा-साहित्य से रूप-विधान की छाया ही ग्रहण हुई । प्रारंभ में तो यह प्रभाव और भी नगण्य रहा । व्यक्तित्व-प्रधान निबन्धों तथा कहानियों को अपनी अभिव्यंजना का माध्यम बनाने वाले भारतेन्दुयुगीन कलाकार स्वयं सजग और प्राणवत्ता-संपन्न थे । उनकी सचेष्टता और जागरूकता ने उन्हें इतने विषय दे रखे थे कि पाश्चात्य परंपरा से दृष्टिकोण आयत्त करने का न तो उन्हें अवसर था न आवश्यकता ही । यहाँ इतना और उल्लेख कर देना आवश्यक है कि 'प्रसाद' और प्रेमचंद के हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में आने तक बँगला के गल्पों का यद्यपि हिन्दी-क्षेत्र में काफी प्रभाव था फिर भी हिन्दी-कहानी को उनकी अनुगामिनी मानने में हमें आपत्ति है । वैसे शरच्चन्द्र की भावुकता और बंकिमचन्द्र की वृत्तात्मकता का काफी प्रभाव पड़ा, किन्तु हिन्दी-कहानी ने उसे अपना बनाकर अपनाया है ।

अँगरेजी कथा-साहित्य तथा बँगला के प्रभाव के अतिरिक्त दो स्रोत और हैं, जिनसे हिन्दी-कहानी प्रारंभ में प्रवाहित होती है । वे हैं प्राचीन आख्यान और कथा के संस्कार तथा फारसी का चुलबुलापन तथा हल्कापन । यहाँ फारसी-पद्धति का संक्षेप-निर्देश ही शेष है—अन्य की चर्चा हम पूर्व ही कर आए हैं । प्रारंभ में यह विजातीय प्रभाव अत्यन्त विकृत रूप में गृहीत हुआ । विकास और प्रचार की संभावित साधन-संपन्नता के पूर्व भारतीय-साहित्य की प्राचीन कथा-पद्धति अपने सुपरिचित मार्ग से कुछ अलग हो गई थी । फारसी-कहानियों के संपर्क से लैला-मजनूँ, शीरीं-फरहाद, किस्साए गुले-बकावली इत्यादि के अनुसरण-अनुवरण पर कहानियाँ प्रचलित हो गई थीं, जिनके प्रधान लक्ष्य मनुष्य की आदि प्रवृत्तियों (काम

तथा उसके सस्ते रूप) की पुनरुक्ति और प्रतिपादन ही थे। फारसी साहित्य के आदर्श और रोमांटिक ढंग के प्रेम-कथानक भी इसी हल्का मनोवृत्ति के शिकार हो गए। आदिम शक्तियों को उत्तेजित करने के लिए जिन कौशलों का सहारा लिया जाता था वे एकदम अस्वाभाविक और रुचि-बहिर्भूत थे।··हिन्दुस्तानी कथानक रूढ़ियों और फारसी कहानीगत अभिप्रायों के सबसे निम्न स्तर के अवयवों के सम्मिश्रण से जो साहित्य बन रहा था वह न बहुत उच्च कोटि का बन सका और न कभी अभिजात-साहित्य के महल की देहली ही लाँघ सका। परन्तु नये युग के आने के बाद तक उसका खँखेरा सूखा नहीं था। 'किस्सा तोता मैना', 'छबीली भटियारिन', 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'एक रात में चालीस खून' इत्यादि कहानियों में यही विकृत रुचि सुरक्षित रह गई है।"[१] इनके साहित्यतत्त्व संदिग्ध हैं। सामंती परपरा का यह अति विकृत रूप है—शैली और विषय दोनों दृष्टियों से। वैसे आचार्य भामह द्वारा दिए गए 'कथा' के लक्षण इन पर प्राय: घटित हो जाते हैं।

अस्तु। फारसी-कहानियों की यह ऊहात्मक और अतिरंजनात्मक दृष्टि का प्रभाव इतना ही रहा। वैसे इस मनोवृत्ति की उपलब्धि आज भी श्री प्रेम वाजपेयी तथा अन्य की रचनाओं में हो जाती है, परन्तु वे साहित्यिक परिनिष्ठा प्राप्त नहीं कर पातीं।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि हिन्दी-कहानी उन सारे स्रोतों से प्रभाव ग्रहण करते हुए भी स्व-निहित विकसनशील-संभावनाओं के बल पर ही प्रगति कर सकी है। वस्तुत: प्रभाव की दृष्टि से प्रलम्ब उत्प्रेरणा इसे प्राचीन भारतीय परंपरा एव अँगरेजी के माध्यम से अँगरेजी तथा अन्य साहित्य-परंपरा से ही मिली। अपनी ऐतिहासिक अनिवार्यता तथा नवीन मन:स्थितियों के आग्रहवश हिन्दी-कहानी एक अत्यंत सामर्थ्यवान् विधा बन जाती है।

आधुनिक हिन्दी-कहानी के सूत्रपात और विकास हुए अभी लगभग पचास वर्ष ही बीते हैं; किन्तु इस लघु कालखण्ड में ही इसने इतना वैविध्य प्राप्त कर लिया है कि इसकी प्रवृत्तियों तथा प्रकृतिगत प्रगति का सूत्ररूप-उल्लेख संभव नहीं। उपदेश-नीति, बाह्य सामाजिक भित्ति, आन्तरिक जगत का संस्पर्श, स्थानीय रंगों की झिलमिलाहट, कल्पना, मनोविज्ञान, परिस्थितिगत मनोभावों का आकलन, यथार्थवादिता, अतियथार्थ-वादिता इत्यादि विषयों का बृहत्तर फलक पर आकलन एवं शिल्पगत प्रयोगों का बाहुल्य द्रष्टव्य है। इनमें से किन्हें महत्त्वपूर्ण कहा जाए और किन्हें अल्प महत्त्व के, यह निर्णय कर सकना संभव नहीं। वास्तविकता यह है कि विदेशी वस्तून्मुखी सभ्यता के सम्पर्क मे आने के कारण हमारी बद्धमूल धारणाएँ (यदि पूर्णत: नहीं तो भी काफी अंशों मे) बिखर गईं। तर्क-संकुलता, वैज्ञानिक परीक्षण, व्यक्तिवादिता, पूँजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद आदि तत्त्वों का भारतीय जीवन में प्रवेश कुछ ऐसी विद्युत्-गति से हुआ कि प्रारंभ में उसके मूल्यांकन-परीक्षण का हमें अवसर नहीं मिल पाया। इन सर्वथा भिन्न और

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-साहित्य, पृ० ४२१-२२।

साथ ही नवीन विचारधाराओं के अनुरूप ही हमने अपने परिवर्तित जीवन-रूपों का अध्ययन-आकलन प्रारंभ कर दिया। परिणामतः आधुनिक साहित्य में प्रवृत्तियाँ एकोन्मुखी न होकर शतशः विकेन्द्रित होती गईं। कहानी ने इस विकेन्द्रीकरण की चुनौती स्वीकार की। जिस प्रकार के 'पल-पल परिवर्तित' जीवन-मार्गों से हम गुजर रहे थे और गुजर रहे हैं उनमें यौगपतिक सम्बन्ध-स्थापन या तो 'निमिष निषित कहे निमिषेर काहिणी'[1] वाली कहानी कर सकती थी या फिर 'मुक्तक'। दोनों ने अपने-अपने ढंग से किया भी। कहानी गद्य-विधा होने के कारण जन-रुचि अधिक अर्जित कर सकी।

अस्तु। यद्यपि आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में सर्वप्रथम लिखित होने का दावा करने वाली कहानियों की सूची दी है[2] और उन्होंने 'इंदुमती' (किशोरी लाल गोस्वामी, १९०० ई०) के पक्ष में अपना मत भी दिया है (साथ ही आलोचक अन्य-अन्य कहानियों के पक्ष में हैं), परन्तु हमारी दृष्टि में इस ऊहापोह की कोई आवश्यकता नहीं है। कहानी कोई भी पहले लिखी गई हो, महत्त्व है प्रवृत्तिगत अध्ययन का। जिस प्रकार इस विषय पर हम तर्क-संग्रह नहीं करते कि पृथ्वी पर सर्वप्रथम कौन मनुष्य आया, उसका क्या नाम था आदि, वैसे ही प्रस्तुत विषय पर भी तर्क-संग्रह नहीं करना चाहिए, अन्यथा प्रतिभा का अपव्यय होता है। पृथ्वीराज-रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के विषय में तर्क-बुद्धि के जितने प्रयोग हुए, उतनी विश्लेषण-बुद्धि यदि उसके काव्य-सौंदर्य के अध्ययन-उद्घाटन में प्रयुक्त होती तो कदाचित् अधिक उपादेय होती। आवश्यकता इस बात की है कि प्राप्त प्रारंभिक कहानियों का परीक्षण-विश्लेषण करके उनकी प्रवृत्तियों पर विचार करें। इसके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल की सूची मे आए लेखक मूलतः कहानीकार नहीं थे, उन्होंने इस क्षेत्र में जमकर काम नहीं किया। इन कहानियों में एक प्रकार की अभिव्यक्तिजन्य झिझक है—शिल्प की दृष्टि से मॉनोटोनी ही उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से भारतेन्दु-युग में भी आख्यायिकाएँ मिलती हैं। अतः आचार्य शुक्ल की सूची अनायास ही स्वीकार नहीं की जा सकती।

हिन्दी-कहानी की प्राचीनता सिद्ध करने की धुन तथा कुछ मौलिक कह देने की जल्दबाज़ी में एक आलोचक ने गोकुलनाथ की पुस्तक 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' को हिन्दी-कहानी-साहित्य का सर्वप्रथम उपलब्ध संग्रह मानने का आग्रह दिखलाया है।[3] इन बंधु का यह बहुत बड़ा साहस या एक सीमा तक दुस्साहस भी कह सकते हैं। परन्तु यह दुस्साहस भी 'गुनाहे बेलज्जत' है। पहली आपत्ति तो यही है कि वार्त्ता और कहानी पूर्णतः भिन्न हैं—दोनों में विधानगत अथवा विषयगत कोई सम्बन्ध नहीं है—समानता नहीं है। दूसरे वार्त्ता-साहित्य संस्मरणात्मक

१. गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा दी गई 'कहानी' की परिभाषा।
२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ५०३ (८वाँ संस्करण)।
३. देखिए, सरस्वती संवाद का 'गद्य-विशेषांक', पृ० १६२।

टिप्पणी और बहुत हद तक घटनाओं का पंजी मात्र है— सूचनामात्र है,' इससे कहानी का कोई दूरान्वयी साम्य भी नहीं है। फिर इतनी दूर तक हिन्दी-कहानी की जड़ खींच कर ले जाने में उसके टूट जाने का ही भय अधिक है।

हिन्दी-गद्य की प्रारंभिक वेला में 'नासिकेतोपाख्यान, प्रेमसागर, रानी केतकी की कहानी' इत्यादि की उपलब्धि होती है। इनमें पौराणिक शैली और मध्यकालीन किस्सागोई का रूप देखा जा सकता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में वह "नई परंपरा की आरम्भिक कहानी नहीं है बल्कि मुस्लिम प्रभावापन्न परंपरा की अन्तिम कहानी है।"[१] इनमें अस्वाभाविक और अतिमानुषिक प्रसंगों की भरमार है विशेषत: 'रानी केतकी की कहानी' में। इसमें रुचिबहिर्भूत विवरणों का आधिक्य तो नहीं है, पर कमी भी नहीं है। हल्की, चलती-फिरती चुलबुली भाषा तथा आधुनिक कहानी का किंचित् आभास ही इसकी विशेषता है। कहानी में गत्यात्मकता का भी अभाव ही है। अब तक ये लेखक रीतिकालीन परंपरा में ही पल रहे थे। सामाजिक तटस्थता का भाव इनमें प्रबल है। युग की चिन्तन-प्रक्रिया जिन रूपों में विकास पा रही थी, उसका चिह्न भी इनमें प्राप्त नहीं होता। इन कहानियों में न तो कोई चरित्रगत वैशिष्ट्य है, न शिल्प अथवा विषयगत उपलब्धि ही। सभी में अभिव्यक्ति की निष्ठा की अपेक्षा वर्णन का आग्रह ही अधिक है।

सामाजिक तटस्थता का यह भाव भारतेन्दु-युग में आकर शमित हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी साहित्यकार सजग और संवेदनशील प्राणी थे। उनकी दृष्टि सामाजिक असंगतियों पर सीधी और गहरी पड़ती थी। किन्तु उनकी इस सजगता का उपयोग कहानी-क्षेत्र में नहीं हो सका। भारतेन्दु और उनके मंडल के लेखक सामाजिक समस्याओं को, जिस सचाई और यथार्थता से नाटकों में और एक सीमा तक कविताओं में अभिव्यक्त कर सके, कहानी में नहीं कर सके। इसका कारण था। भारतेन्दु-युग तक 'कहानी-कला' नाम की कोई साहित्यिक विधा स्वीकृत नहीं हुई थी। लघु कथानकों में पंचतंत्र का शिल्पविधान ही प्राय: स्वीकृत था, यद्यपि पद्धति और दृष्टि सर्वथा भिन्न थी। विषय उनके पास प्रचुर मात्रा में थे, पर पाश्चात्य प्रभावापन्न नहीं होने के कारण वहाँ कहानी-कला का विकास नहीं हो सका। फलत: भारतेन्दु-युग के कलाकार अपनी गहरी सामाजिक पकड़ और जनवादी दृष्टि की अभिव्यक्ति कहानी के माध्यम से नहीं कर सके। वैसे अन्योक्ति पद्धति की कई सफल कहानियाँ प्राप्त होती हैं। राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा' भारतेन्दु का 'एक अद्भुत् अपूर्व स्वप्न', 'मूसा पैगम्बर' आदि कृतियाँ अन्योक्ति पद्धति की सफल कहानियाँ हैं। आधुनिक दृष्टि में यद्यपि 'कहानी' की संज्ञा इनके लिए असंगत है, फिर भी यह सर्वथा नवीन प्रयास था—

---

१. हिन्दी-साहित्य, पृ० ४२२।

प्रयोग की नई दिशा थी। सामाजिक तटस्था के स्थान पर प्रखर जागृति, उपदेशात्मकता-नीतिपरकता तथा निरर्थक आचार्यत्व के स्थान पर तीव्र व्यंग्य-प्रणाली का जन्म हुआ। इन कहानियों की अप्रस्तुत लोक की कथा तथा चरित्र निश्चित रूप से प्रस्तुत समाज और उसकी असंगतियों की ओर संकेत करते हैं। लेखक एक पल के लिए भी जीवन और जगत् के कटु यथार्थ से विरत नहीं हुआ है। फिर भी इनकी अपनी सीमाएँ थी। भारतेन्दु-युग के पूर्व की सामाजिक तटस्थता यद्यपि तिरोहित हो गई थी, फिर भी व्यक्तिवादिता और कहानी में अन्तर्निहित लक्ष्य-सिद्धता का अभाव ही रहा। भारतेन्दु-युग की कहानियों मे आधुनिकता का संस्पर्श मात्र था, पूर्णरूपेण आधुनिकता नहीं आ पाई थी। पात्रगत वैशिष्ट्य या शिल्पगत स्थिरता दृष्टिगत नहीं होती।

यह कार्य द्विवेदी-युग में पूरा हो सका, अनायास ऐसा नहीं कहा जा सकता। हिन्दी कहानी का यह प्रयोगकाल ही था। वैसे डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य मे वास्तविक कहानी का आरम्भ 'सरस्वती' के प्रकाशन से ही माना है,[१] परन्तु इसे हम अनायास ही स्वीकार नहीं कर सकते। जैसा कि डाक्टर साहब का ही निष्कर्ष है— "इन कहानियों को न तो मौलिक कहानी ही कहा जा सकता है और न अनुवाद ही''''इनमें साहित्य के प्रति रुचि जाग्रत करने का प्रयास भर है।"[२] इसी से सिद्ध है कि हिन्दी कहानी का मौलिक रूप अभी अनागत था। हाँ, इनमें भावी प्रस्फुटन की संभावनाएँ अवश्य छिपी थीं। इस काल में हिन्दी की भावव्यंजना और शैली अप्रत्याशित रूप से बदल गई थीं, किन्तु विषय के सम्बन्ध मे अनिश्चितता थी। एक निश्चित उद्देश्य लेकर लेखक आगे बढ़ते थे, किन्तु विषय की यह निश्चितता भी कहानी क्षेत्र में स्थिर नहीं रह सकी। शिल्प-विधि का विकास निश्चित रूप से तथा ठोस प्रगति मे हुआ। इस क्षेत्र में शेक्सपीयर के नाटकों का सांवैधानिक सौष्ठव काफी प्रभावित कर रहा था। वस्तुतः हिन्दी-कहानी का भारतीय साहित्य में अपूर्वाशित होने के कारण उसके शिल्प-विधान के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा अबतक हमारे पास नहीं थी। इस अभाव की प्रारम्भिक पूर्त्ति शेक्सपीयर के नाटकों ने किया। डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल के अनुसार— "शेक्सपीयर के नाटकों की कथा-वस्तुओं अथवा आख्यायिकाओं ने निश्चित रूप से हिन्दी-शिल्प-विधि के प्रारम्भिक विकास में प्रेरणा दी है।'' शेक्सपीयर के नाटकों की इन आख्यायिकाओं ने कहानी-शिल्पविधि की दिशा मे

१. "वस्तुतः बीसवीं शताब्दी में जब 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ तभी वास्तविक अर्थों में कहानी लिखना शुरू हुआ। प्रथम-प्रथम तो शेक्सपीयर के कुछ नाटकों को कहानी के रूप में लिखने का प्रयत्न हुआ। फिर संस्कृत की रत्नावली, मालविकाग्निमित्र जैसे नाटकों और कादम्बरी जैसी कथाओं को कहानी रूप में कहने का प्रयत्न किया गया।"— हिन्दी-साहित्य, पृ० ४२३।

२ वही पृ० ४२३

विशेषकर कथा-वस्तु के तत्त्व में नाटकीय गठन और मुख्य संवेदना में अन्तर्द्वन्द्व और दुखान्त की भावना प्रतिष्ठापित किया।"[१]

किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' के बाद उपदेशमूलक कहानियों की झड़ी सी लग गई। विद्यानाथ शर्मा की कहानी 'विद्याबहार' तथा मैथिलीशरण गुप्त की 'निन्यानवे का फेर' ऐसी ही कहानियाँ थीं। 'सुदर्शन' पत्रिका में श्री माधव प्रसाद मिश्र की कहानियाँ प्रकाशित हो रही थीं। सन् १९०७ ई० में बंग महिला की 'दुलाई वाली' शीर्षक कहानी प्रकाशित हुई, जिसमें मानवीय भावना के चित्रण का यथार्थवादी प्रयत्न निहित था। विश्वम्भरनाथ जिज्जा, गिरिजाकुमार घोष, वृन्दावनलाल वर्मा (इनकी पहली कहानी 'राखी बंद भाई'—१९०७ ई०) तथा मैथिली-शरण गुप्त ('नकली किला') आदि की कहानियाँ इसी समय प्रकाशित हुईं। कुल मिलाकर एक पुष्ट पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। शिल्प-विधान के इतिवृत्तात्मक रूप, पात्रों का ऋजु और वस्तुनिष्ठ चित्रण तथा इतस्ततः विशिष्ट उद्देश्य पूर्ण विषयों का आधान आदि इस युग की कहानियों की सीमाएँ हैं। इनमें से किसी लेखक में वह मौलिक प्रतिभा नहीं थी जो हिन्दी में नई कहानी का सूत्रपात या प्रवर्त्तन कर पाती। अतः यह भी प्रयोगकाल ही था।

वस्तुतः इतने विविध एवं किंचित् सीमित प्रयोगों के बाद ही यह संभव था कि नवीन परम्पराएँ एवं स्थापनाएँ सामने आ पातीं। और यह हुआ भी। आधुनिक दृष्टि से कहानी कही जाने वाली कहानियों के अंग अब आकर वर्तुल, स्पष्ट एवं सुपुष्ट होने लगे थे। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी में आधुनिक कहानी की परंपरा का सूत्रपात और विकास जयशंकर प्रसाद की कहानी 'ग्राम' और प्रेमचन्द की कहानी 'पंच-परमेश्वर' से होता है।[२] यह घटना 'इंदु' के प्रकाशन से सम्बन्धित है। 'प्रसाद' जी की 'ग्राम' शीर्षक कहानी १९११ ई० प्रकाशित हुई। इस वर्ष गंगा प्रसाद श्रीवास्तव की हास्य-प्रधान कहानी 'पिकनिक' और 'भारतमित्र' में गुलेरीजी की पहली कहानी 'सुखमय जीवन' भी छपी। 'प्रसाद' जी अतीन्द्रिय भावुकता और कोमलता के साथ नई संभावनाएँ लेकर आए थे। यह प्रथम अवसर था जब हिन्दी-कहानी में कल्पना-प्रधान आदर्श-चित्रण का आधान हुआ था। प्रसाद की भावुकता अपनी थी जो बंगला के प्रभाव से और भी संवेदन-शील बन गई। बाद में भी भावुकता की यह ऊँचाई अछूती ही रही। इसी समय हिन्दी-कहानी में एक नई प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। राष्ट्रीय जागरण के पहले दौर से प्रभावित कहानी में भी बलिदान-भावना का आदर्श-विधान दृष्टिगत हुआ। राजा साहब, ज्वालादत्त शर्मा और गुलेरीजी की अधिकांश महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। 'कानों में कंगना', 'परदेशी', 'उसने कहा था' आदि कहानियों

---

१. हिन्दी कहानियों के शिल्प-विधि का विकास, पृ० २६६।

२. डॉ० शिवदान सिंह चौहान, हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष (प्रथम संस्करण), पृ० १७५।

की आदर्शवादिता, निर्व्याज समर्पण, प्रेम की उदात्तता और आकुलता हिन्दी-कहानी के पहले दौर की मुख्य उपलब्धियां थीं। 'कानों में कंगना' और 'उसने कहा था' विशेष चर्चा के विषय बने—कुछ तो राष्ट्रीय जागरण के तत्त्वों के कारण और कुछ शिल्प तथा उपचार-कौशल के कारण। लहनासिंह (उसने कहा था) के आदर्श बलिदान का जीवन-स्रोत प्रसाद के 'गुंडा', कौशिक की 'ताई' तथा 'नवनिधि' के अधिकांश पात्रों के बीच प्रवाहित रहा। सामाजिक यथार्थ का रूप अभी स्पष्ट नहीं हो पाया था। हृदयेश की भावुकता और गहमरी की रहस्य-रोमांचकता भी हिन्दी-क्षेत्र में आ चुकी थी। राजनीतिक जागरण राजा साहब की कहानियों (लाल टोपी) में ध्वनित हो चुका था। फिर भी एक संश्लेष की अपेक्षा बनी बनी थी। इस कार्य को प्रेमचन्द ने किया।

इस समय अँगरेज शासकों से संघर्ष बढ़ रहा था; किन्तु साथ ही अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से पाश्चात्य मान्यताओं से सम्पर्क और भी गहरा हो रहा था। एक ओर हम अँगरेजों को देश से निष्कासित करना चाह रहे थे, दूसरी ओर उनसे तथा उनके साहित्य से दृष्टि-ग्रहण करने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी। अनायास देखने पर यह स्थिति एक विचित्र हेत्वाभास सी लगती है, पर तथ्य अपनी जगह पर ठीक है। फिर भी जहाँ तक कहानी का प्रश्न है, हम पूर्व ही कह आए हैं कि इस क्षेत्र में प्रभाव रूपगत ही अधिक रहा। शैली की दृष्टि से पाश्चात्य कहानी काफी विकसित हो गई थी। चरित्र-विकास की संभावनाएँ चरम पर आकर वस्तु-खण्ड के चित्रण के लिए स्थान रिक्त कर रही थीं। कहानी एक ओर उपन्यास से पृथक् सत्तासंपन्न है तो दूसरी ओर प्रबन्धगत वैविध्य से भी मुक्त। फलतः इसके लिए विशिष्ट शैली का प्रतिपादन हुआ। एच० जी० वेल्स ने इसीलिए कहानियों का काल-विस्तार बीस मिनट का ही माना था, इसमें उनका उद्देश्य कदाचित् मूल-संवेग की तीव्रता को प्रखरतर रूप में देखना ही रहा था। इसके अतिरिक्त उनकी कुछ अपनी सामाजिक स्थिति थी—कहानी के विकास की अपनी गति रही थी। "लेखक को साधारण वस्तुओं के सम्बन्ध में ही लिखना चाहिए"—चेखव के इस कथन की व्याख्या विस्तार पाती गई। फलतः पाश्चात्य कहानी का कार्य वर्णन करना न होकर विश्लेषण तथा संकेलित करना रह गया था। इसी कारण चरित्र-इकाइयों का निर्माण वे काफी कर सके। समासतः कहानी से सम्बन्धित तीन दृष्टियाँ वहाँ उपलब्ध हैं—विषयगत, चरित्रगत तथा शिल्पगत।

प्रेमचन्द इन तीनों को लेकर चले। वे कथोद्भावन व्यापार के सिद्धहस्त कलाकार थे। 'पंच परमेश्वर' में ही आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का स्वर मुखर हो चुका था, जिसका यथाविधि प्रतिपादन उन्होंने बाद में किया।[1] प्रेमचन्द की कहानियों में एक साथ ही प्रचार, यथार्थ, आदर्श, वर्गगत विषमता, संघर्ष आदि मिल जाते हैं। यह सब अनायास ही प्राप्त नहीं हुए थे। 'नवनिधि' से

१. साहित्य का उद्देश्य, पृ० २७ (प्रथम संस्करण)।

लेकर 'कफन' तक इसके परिष्कार एवं उपलब्धि के उपक्रम वर्त्तमान हैं। इस समय तक सामाजिक यथार्थ और वैयक्तिक यथार्थ दोनों का प्रतिष्ठापन साहित्य से पृथक् रूप में हो चुका था। प्रेमचन्द ने इस यथार्थ को शास्त्रीय-परिबद्धता से भिन्न रूप में स्वीकार किया। सन् १९३६ ई० तक मार्क्सवाद की प्रतिष्ठा भारत में हो चुकी थी। पर प्रेमचन्द ने मार्क्सवाद को स्वीकार नहीं किया था। उनकी प्रगतिवादिता पुस्तकीय नही, अनुभूत थी।

'नवनिधि' और 'कफन' का अन्तराल हिन्दी-कहानी के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वस्तु-सापेक्षता का आग्रह प्रबल हो रहा था। कहानीकार अब कल्पना, रहस्य-रोमांच और दर्शन की सीमा में रहकर अपनी सजग चेतना के हनन करने के बजाय भूल में लौट कर उसमें और भी निखार लाना चाहता था। प्राय. पूरा का पूरा कहानी-साहित्य इन प्रवृत्तियों से भरा था। प्रेमचन्द की ही कोई पाँच सौ कहानियाँ इस दृष्टि से युग की सफल चित्रफलक हैं। प्रेमचन्द की सहानुभूति ठोस रूप से, सक्रिय रूप में, वर्गगत समस्याओं की ओर झुकी थी। यह हिन्दी-कहानी का अग्रिम पदन्यास था। फिर भी प्रेमचन्द में क्रान्ति का स्वर ललकार का रूप धारण नही कर सका, आह्वान बन कर रह गया। इसके कारण आलोचकों के आक्षेप भी आए कि प्रेमचंद अपने वर्गगत स्वार्थों और सीमाओं से घिरे रह गए। यह प्रेमचंद का ही नहीं प्रेमचदयुगीन मध्यवर्गीय संस्कृति का आग्रह था। उस समय कोई क्रान्तिकारी कदम उठाना संभव नहीं था। प्रेमचंद मानवतावादी सुधारवाद के पक्षपाती थे, संघर्ष और विध्वंस में उनका विश्वास नहीं था। ये ही आक्षेप एक दिन तालसताय पर भी लगाए गए थे जिनके लिए लेनिन ने कहा था— An artist truly great must have reflected in his work atleast some essential aspect of his revolution. और वस्तुतः दोनों महान् साहित्यकारों ने अपनी परिवेशगत सीमाओं में रहकर भी भावी क्रान्ति की सभावनाएँ तथा रूपरेखा स्पष्ट कर गए थे। युग का उभरता हुआ विद्रोही स्वर प्रेमचंद की कहानियों में निहित है। 'कफन' की आत्मा ही यही है।

प्रेमचंद की कहानियों में निहित क्रान्ति की संभावनाएँ तथा विस्फोटक द्रव्य बाद में यशपाल की कहानियों में उबल पड़े हैं। यह स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे प्रेमचंद का मनोविश्लेषण जैनेन्द्र की प्रतीक्षा में था। प्रेमचंद में मनोविज्ञान ही है, मनोविश्लेषण नहीं। मनोविज्ञान एक सहज परिज्ञान है और मनोविश्लेषण एक शास्त्र, इस अन्तर को स्मरण रखना है; क्योंकि यही वह संधि-रेखा है जहाँ प्रेमचंद पीछे हट जाते हैं और जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी आदि उनसे भी तीव्र गति से आगे बढ़ते हैं।

मनोविश्लेषण की प्रारम्भिक रूपरेखा प्रेमचंद ने गृहदाह, नशा, कफन, शतरंज के खिलाड़ी इत्यादि कहानियों में प्रस्तुत कर रखी थी। तात्पर्य यह है कि परवर्ती काल में हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में जितनी भी प्रवृत्तियाँ उभरीं यथा—यथार्थवाद,

क्रान्तिवाद, मनोविश्लेषण, आंचलिकता इत्यादि उन्हें प्रेमचंद ने पूर्वाशित कर रखा था। यह दिशा-निर्देश कितना सबल और सप्राण था, यह एक भिन्न प्रश्न होगा। प्रेमचंद का अपना क्षेत्र निम्न मध्यवर्गीय समाज और किसान ही रहा। गाँधी-दर्शन से प्रभावित किसानों के प्रति प्रेमचन्द की निर्व्याज सहानुभूति का पिटरपाक इतना विस्तृत और शाद्वल है कि आज तक भी उसका प्रतिमान अक्षुण्ण है। कहानी के शिल्प-विधान का काफी विकास हो चुका था। प्रेमचंद स्वयं 'पंच परमेश्वर' की वर्णनात्मकता तथा वैयक्तिक रुचि-ग्रस्त चरित्र-चित्रण से उठकर 'कफन' की सांकेतिकता और वस्तुनिष्ठता तक पहुँच चुके थे। शील-निरूपण की विशिष्ट शैली तक चरित्र-संकेत का विकास हो चुका था।

वस्तु-चेतना को ईषत् भिन्न रूप में ग्रहण करते हुए प्रसादजी दीख पड़ते हैं। 'छाया' की रचनाएँ रवीन्द्रनाथ से प्रभावित हैं। वही अतीन्द्रिय भावुकता, मसृण कल्पना, गद्यकाव्यात्मक वातावरण और वही अतिशय चित्रात्मकता। प्रेमचंद और प्रसाद की यह बिलगाव-रेखा है। इतिहास के प्रति इनका मोह यहाँ भी सुरक्षित है। 'आकाशदीप' (१९२९ ई०) की कहानियों में भावुकता के साथ-साथ दार्शनिकता का हल्का सा पुट मिल जाता है जो बाद में गहरा से गहरा होता गया। मनोविश्लेषण का हल्का सा प्रयास 'सोने के साँप', 'प्रतिध्वनि' आदि कहानियों में मिल जाता है। 'आँधी' और 'इंद्रजाल' में प्रसाद की भावुकता वस्तून्मुखी हो गई है। वस्तु की दृष्टि से वे आदर्शवादी रहे, यद्यपि इसकी परिणति यथार्थवाद से भिन्न नहीं। प्रेमचंद के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के साम्य पर आलोचकगण प्रसाद के संबंध में भी 'यथार्थोन्मुख आदर्शवाद' कहते नहीं थकते। किन्तु आदर्शवाद का स्वर प्रमुख होने की अपेक्षा प्रसाद में उनकी सहज भावुकता और मसृण कल्पना ही प्रधान है। इनके माध्यम से वे एक ऐसे वातावरण निर्माण करने में सफल हो जाते हैं जिसमें सहज ही आदर्श की अवस्थिति संभव हो जाती है, किन्तु यह आदर्श-अवस्थान किसी वाद की सीमा में आता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

प्रसाद ने पुरुष-हृदय की अपेक्षा नारी-हृदय को अधिक पहचाना था। उनमें वस्तु के प्रति एक सहज आग्रह है। पात्रों को वे अपनी गहरी संवेदना दे सके हैं, जिसके कारण ही 'सालवती', देवरथ की सुजाता तथा पुरस्कार की मधूलिका में परिस्थिति से जूझने की नई चेतना भरी जा सकी। नारी-संबंधी सामाजिक प्रश्न पर प्रसादजी शरत् और प्रेमचंद से भिन्न नहीं हैं। शरत् ने नारी-हृदय के कोमल तन्तुओं को सहलाया था। उससे निःसृत वाणी बड़ी ही मार्मिक और शक्तिसम्पन्न थी। प्रेमचंद ने भी नारी-जागरण को कुछ इसी रूप में देखा था। भारतीय-समाज के युगों से उपेक्षित इस पक्ष— नारी, को प्रसाद ने संभवतः पहली बार इतनी यथार्थ और गहरी सहानुभूति और उत्तेजना दी थी। नारी संबंधी प्रसाद की यह दृष्टि 'कामायनी' में परिणति प्राप्त कर सकी थी। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' इस सूत्र-वाक्य की सारी भावुकता, सारी विह्वलता और उत्सर्ग भाव प्रसाद की कहानियों

में आए नारी पात्रों में सन्निविष्ट है—'विराम चिह्न', 'आकाशदीप' आदि कहानियों के नारी-पात्र इसके प्रमाण हैं।

प्रसादजी ने हिन्दी-कहानी की एक और दिशा का संकेत दिया था—मानवतावादी प्रतिमानों के आधार पर व्यक्ति-यथार्थ और सामाजिक यथार्थ की समन्वय-भूमि, 'गुंडा' कहानी इसी ओर संकेत करती है। यद्यपि प्रसादजी सामाजिक यथार्थ की चरमनिष्ठा से सहमत नहीं थे, फिर भी जितने चित्र इस कहानी में आए हैं उनकी एक स्वतंत्र परंपरा निर्धारित हो सकती थी, पर ऐसी हुई नहीं; स्वयं प्रसादजी इसका विस्तार नहीं कर सके। प्रसाद की कहानियों में शिल्प-विधान की एक निश्चित रूपरेखा दीख पड़ती है, जिसमें चरम आघात और मूल-संवेदना पर विशेष बल दिया गया था। उनकी कहानियाँ किसी भूमिका की मुहस्सर नहीं, सीधे प्रयत्न-पक्ष से आरंभ होती हैं, फिर विकास और चरम। कथानक का गोदुम की भाँति क्रमशः स्खलन नहीं मिलता। संवेदन का क्रमिक संकेन्द्रन तो होता है, परन्तु व्यापार नहीं रुकता। आगे के लिए ये प्रवृत्तियाँ काफी मूल्यवान सिद्ध हुईं। आधुनिक कहानियों की शिल्प-विधि के चरम कटाव के लिए प्रसाद के ये प्रयोग मीलस्तम्भ का कार्य करते हैं। वैसे ही प्रेमचंद ने पात्रों को जहाँ समन्वीकृत करके देखा था, प्रसाद ने विशेषीकृत करके देखा।

इसी समय विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', आचार्य चतुरसेन शास्त्री और पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र' तीन और महत्त्वपूर्ण कहानीकार सामने आते हैं। 'कौशिक' की भावुकता, शास्त्रीजी का यथार्थ व्यंग्य और उग्र की यथार्थवादी चेतना हिन्दी कहानी की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। इनमें शास्त्रीजी उपन्यास-क्षेत्र में अधिक प्रखर रहे। उग्र की पैनी दृष्टि तथा समस्या की गहरी पकड़ के साथ-साथ उनकी चुभती हुई व्यंग्य विद्रूप की शैली ने एक ओर यदि उनकी कहानियों में गहरा रंग दिया तो दूसरी ओर विषय के प्रति अहंयुक्त उच्छृंखलता ने 'घासलेटी' साहित्य की संज्ञा प्राप्त की।

प्रेमचंद के बाद हिन्दी-कहानी स्पष्टतः दो धाराओं में आगे बढ़ी—अपराध-कहानी-साहित्य और अभिजात कहानी-साहित्य। अपराध-साहित्य आलोचकों द्वारा पूर्णतः उपेक्षित रहा है। आलोचक 'गहमरी' तक ही इस विषय की चर्चा करते हैं; 'गहमरी' की परंपरा बाद में किस रूप में स्वीकृत हुई, उपलब्धियाँ क्या हैं आदि का मूल्यांकन वे नहीं करते। यह एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक भूल है।

स्वर्गीय आचार्य नलिन विलोचन शर्मा कहा करते थे कि हिन्दी के आभिजात्य साहित्य को विशेषतः कथा-साहित्य को सर्वाधिक खतरा अपराध-कथा-साहित्य से है। यह चर्चा वे अँगरेजी-साहित्य की स्थिति देखकर ही संभवतः करते थे। वैसे प्रेमचंद-युग में ही एम०एल० पाण्डेय और युगल किशोर पाण्डेय रचित जासूसी कहानियाँ इस क्षेत्र में प्रवेश कर चुकी थीं और उन्होंने समर्थ जासूसी साहित्य को भी जन्म दिया, परन्तु आचार्य शर्मा की आशंका अद्यावधि सिद्ध नहीं हो पाई।

वैसे अपराध-वर्ग समाज का एक अनिवार्य अंग है। अपराध-साहित्य इसी वर्ग को केन्द्रीय तत्त्व स्वीकार करता है। प्रेमचंद-युग में इस वर्ग की कहानियों का काफी प्रसार हुआ। जयंत-सिरीज की कुछेक कहानियों को तो 'ब्लेक-सिरीज' की कोटि का माना जा सकता है; फिर भी Poetic Justice का आवश्यकता से अधिक आग्रह, चमत्कार-सृजन-वृत्ति, मनोवैज्ञानिक विश्वसनीयता तथा कारणिक सम्बन्ध के अभाव के कारण अपराध-साहित्य साहित्य-क्षेत्र में विशेष स्थान नहीं पा सका। दूसरी ओर इसे सामाजिक पृष्ठाधार भी नहीं दिया जा सका। इसी कारण एक स्तर-विशेष के पाठकों—अल्पशिक्षित, किशोर-बुद्धि—के बीच ही यह प्रचलित रहा।

अभिजात-साहित्य में जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं। जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द की तरह ही जीवन का विघटन दिखलाया, परन्तु दोनों के धरातल भिन्न थे। प्रेमचन्द ने व्यक्ति का विघटन सामाजिक धरातल पर दिखलाया था, जैनेन्द्र ने यह विघटन मानस-धरातल पर दिखलाया। जैनेन्द्र का क्षेत्र समाज नहीं व्यक्ति था। उन्होंने व्यक्ति की इकाई में समाज को संस्था मानकर उसकी असंगतियों का आकलन किया। जैनेन्द्र की साहित्यिक पृष्ठभूमि मध्यवर्गीय परिवार और इसके सदस्यों के चेतन-उपचेतन तक ही सीमित रही— रत्नप्रभा, ध्रुवयात्रा, परावर्त्तन, अकेला आदि कहानियाँ इनकी साक्षी है। इनके अतिरिक्त उन्होंने शुद्ध दर्शन के आधार पर कतिपय प्रतीकात्मक कहानियों का भी सृजन किया, उदाहरणार्थ 'वन' शीर्षक कहानी, जो अपनी शिल्प-परिनिष्ठा में अकेली है। अश्क मध्य-वर्ग की आर्थिक-समस्याओं को लेकर आगे बढ़े तथा इनसे उपजन्य विभिन्न असंगतियो और विकृतियों को यथार्थवादी दृष्टि से विश्लेषित किया। अज्ञेय का क्षेत्र थोड़ा भिन्न है। अज्ञेय मनुष्य और उसके अन्तर्मन की क्रिया-प्रतिक्रियाओं और उसके मानव-मूल्यों की कसौटी पर मूल्यांकन को ही अपना इत्यलम् मानते हैं। ये अत्यत संवेदनशील कलाकार हैं। इस संवेदनशीलता का वैशिष्ट्य यह है कि लेखक उसमें बहुत कुछ तटस्थ रह पाता है। कहानीकार की संवेदनीयता और अध्येता की निर्लिप्तता 'अज्ञेय' की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं—गैंग्रीन, शरणदाता, रमंते तत्र देवता आदि कहानियाँ इसके प्रमाण हैं। वर्त्तमान के प्रति व्यग्य-विद्रूप के क्षेत्र में अज्ञेय अकेले हैं— उर्दू के कहानीकारों में यह उपलब्धि सिर्फ कृष्णचन्द्र को ही नसीब है।

यशपाल इन सभी से भिन्न हैं। एक साथ ही मार्क्सीय वस्तुवादिता तथा फ्रायडीय मनोविश्लेषण—जो परस्पर विरोधी है, की प्रतिपत्तियाँ यशपाल की कहानियों को अभिनव शक्ति देती हैं। यशपाल में एक ओर समाजिक उत्तरदायित्व की भावना जितनी तीव्र है उतनी ही व्यक्ति की अन्तर्वृत्तियाँ भी मुखर हैं। दोनो का गुणात्मक संश्लेषण कर सकना यशपाल के लिए ही संभव था। यशपाल की इस उपलब्धि पर आलोचकों ने छींटाकसी भी की है। डॉ० देवराज के शब्दों में—"कम्यू-निस्ट कॉडवेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Study in decaying culture' में फ्रायड की न जाने कितनी भर्त्सना की है, यशपाल की कहानियों में फ्रायड और मार्क्स मानो

अपने शाश्वत विरोध का परित्याग कर साथ-साथ गलबाँही देकर घूम रहे हैं। इनकी कहानियों में दो ही मुख्य स्वर हैं— रोटी और सेक्स। ''''इसका अर्थ यही है कि यशपाल के फ्रायड न तो असली फ्रायड हैं और न मार्क्स। ये हैं तो केवल मिथ्या मार्क्स हैं और मिथ्या फ्रायड है, अर्थात् किसी भी की मार्मिक अनुभूति यशपाल को नहीं है।''[१] किन्तु, यहाँ डॉक्टर देवराज उपाध्याय यह भूल गये कि मार्क्स या फ्रायड जीवन को संपूर्णता में नहीं देखते, उनके अपने प्रतिपादन ऐकान्तिक और अति-वादी है। साहित्य भी उसी अतिवाद को लेकर चले, यह आवश्यक नहीं। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि साहित्यकार किसी वाद-विशेष का लेबल अपने माथे पर लगा कर चले। यशपाल ऐसे 'लेबलवादियों' में से नहीं हैं और शायद यशपाल का यही 'अलेबलवादी' होना डॉ० उपाध्याय को अखर गया। यह यशपाल के साथ तथाकथित 'विचित्र ट्रैजडी', हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण गुणात्मक उप-लब्धि है। और, जहाँ तक किसी की भी मार्मिक अनुभूति यशपाल को नहीं होने का प्रश्न है, यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी वाद-विशेष की 'मार्मिक अनुभूति' होने न होने का प्रश्न साहित्य में नहीं उठता है। जो प्रश्न उठता है वह है जीवन की 'मार्मिक अनुभूति' का और यशपाल में इसका अभाव नहीं।

समासत: यह कहा जा सकता है कि हिन्दी-कहानी का फलक-विस्तार चतुर्विध रहा— मनोविश्लेषण, मार्क्सीय वस्तुवाद, राजनीति और इन सबसे सबद्ध मध्यवर्ग का संघर्ष-संकुल कुंठाग्रस्त वातावरण। इन क्षेत्रों में मुख्य रूप से दो प्रकार की प्रवृत्तियों से संपन्न प्रतिभाएँ कार्य कर रही थीं— मनोविश्लेषण-यथार्थवादी और मनोविश्लेषण-यथार्थनिरूपण वस्तुवादी। पहले के अग्रणी अज्ञेय हैं और दूसरे के यशपाल।

इसके बाद कुछ नई-पुरानी प्रतिभाएँ बड़ी संभावनाएँ लेकर आयीं। राहुल जी का कहानी-संग्रह 'वोल्गा से गंगा' हमारी प्राचीन संस्कृति से लेकर आज तक की अर्थपूर्ण विवृति करता है—यह कहानियों के माध्यम से सांस्कृतिक-विकास की गाथा है। 'बेनीपुरी' की 'माटी की मूरतें' में संग्रहीत कहानियाँ एक बार पुन: प्रेमचन्द की याद दिला देती हैं।

इस विकास-चक्र के तीन महत्त्वपूर्ण कहानी-संग्रह हैं— स्वर्गीय आचार्य नलिन-विलोचन शर्मा का 'विष के दाँत', निर्मल वर्मा का 'परिन्दे' और फणीश्वरनाथ का 'ठुमरी'। ये तीनों कहानी-संग्रह अपने-अपने वैशिष्ट्य के लिए महत्त्वपूर्ण हैं— 'विष के दांत' तटस्थ व्यंग्य के लिए, 'परिन्दे' शिल्प-कौशल के लिए और 'ठुमरी' अपनी आंचलिकता के लिए। स्वर्गीय आचार्य शर्मा की कहानियाँ स्वस्थ एवं वैज्ञानिक मनोविश्लेषण की दृष्टि से अप्रतिम हैं। भाषा की तराश इनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। कहानीकार जैसे हर वाक्य के बाद और कुछ जोड़ना नहीं चाहता। 'बरसाने की

---

१. डॉ० देवराज उपाध्याय, 'आधुनिक हिन्दी कहानी' शीर्षक निबन्ध, 'आलोचना', इतिहास विशेषांक, पृ० १४७।

राधा' में नलिनजी ने एक नई दृष्टि दी थी। सीधी-सादी, नग्न ग्राम-वधू की भांति शिल्प का आयासहीन, ऋजु प्रयोग श्लाघ्य है। 'परिन्दे' की अत्याधुनिक कहानियाँ पाश्चात्य सभ्यता में पली रमणियों के कटे-छटे 'स्लीवलेस' पहिरावे की प्रतीक हैं— उनके शिल्प का कटाव यही कहता है। और 'ठुमरी' की कहानियों में ठुमरी के संगीत के साथ-साथ मिट्टी की सोंधी गन्ध भी है. भोली-भाली अज्ञात यौवना नायिका के समान सहज संवेदना इन कहानियों की जान हैं विशेषतः तीसरी कसम : अर्थात् मारे गये गुलफाम की रूमानी धूपछांव द्रष्टव्य है।

नए कहानीकारों में राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, हरिशंकर परसाई, मार्कण्डेय आदि काफी स्वस्थ दिशा-निर्देश कर रहे हैं। राजेन्द्र यादव की कहानियों की तटस्थता एवं शल्यक्रिया (जहाँ लक्ष्मी कैद है), मन्नू भंडारी की सहानुभूति, हरिशंकर परसाई का हास्य-व्यंग्य तथा मार्कण्डेय की सहज नियोजना, हिन्दी-कहानी की महत्त्वपूर्ण दिशाएँ हैं।

आधुनिक कहानीकार शिल्प के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सचेष्ट हैं। कहानी कहने की अपेक्षा वह लिखने अधिक लगा है। इसलिए कहानियों को पढ़ते समय पाठक-पक्ष में अतिरिक्त अवधान की अपेक्षा होती है। वातावरण का घनत्व, चरित्र की मरोड़ (Tiwsting of characters), काव्यापेक्षित सांकेतिकता आदि के कारण आज की कहानी पढ़ने की चीज़ रह गयी है। कहानीकार अपना कोई निष्कर्ष पाठक पर थोपना नहीं चाहता, बल्कि एक तटस्थ शल्य-चिकित्सक की तरह वस्तु को चीर-फाड़ कर सामने रख देता है। शल्य-चिकित्सक और कहानीकार में इस दृष्टि से अन्तर इतना ही है, जहाँ पहला उपचार भी बतलाता है, दूसरे को उपचार से कोई मतलब नहीं। फलतः आज का कहानीकार चूँकि जीवन-स्थिति और रस-स्थिति में कोई अन्तर मानता, सिर्फ भावुक ही नहीं रह गया है, बल्कि वह एक सहृदय भी है और भावक भी।

अध्याय १०

विधा-वैविध्य : नाटक

कविता की तरह ही हिन्दी-नाट्य-साहित्य को संस्कृत से विरासत में वे सारी उपलब्धियाँ प्राप्त हैं जो इसके प्रारंभिक ढाँचे के निर्माण के लिए आवश्यक थीं। शास्त्र और नाट्य-पद्धति की सर्व-स्वीकृत परंपरा भरत से ही प्रारंभ होती है और बड़ी ही समृद्ध परंपरा का निर्माण होता है। लेकिन कालिदास, भवभूति प्रभृति की परिनिष्ठा परवर्त्ती काल में सुरक्षित नहीं रह सकी। अतः हिन्दी-नाट्य-साहित्य का संपर्क पहले-पहल संस्कृत की ह्रासोन्मुख परंपरा से हुआ।

संस्कृत में नाटक को पंचम वेद माना गया है। संस्कृत-नाटकों में नाटकीयता की अपेक्षा कविता का स्वर ही प्रबल रहा। हिन्दी में स्थिति पूर्णतया अन्यथा है। अठाहरवीं शती तक हिन्दी में कविता ही प्रधान रही नाटक नहीं के बराबर लिखे गये। ऐसा इसलिए कि उस समय तक हिन्दी का गद्य विकसित नहीं हुआ था। दूसरे संस्कृत की पिछली नाट्य-परंपरा में भी छंदोबद्धता की प्रधानता थी—बनारसी दास का सार-नाटक (सं० १६९३), प्राणचन्द चौहान का रामायण महानाटक (सं० १६६७), रघुराय नागर का समासार (सं० १७५७) इत्यादि इसके प्रमाण हैं। इसके साथ कई और ज्ञात-अज्ञात कारणों से मध्यकाल में नाट्य-साहित्य का विकास नहीं हो सका। यद्यपि लोक-जीवन मे अभिनयात्मक कार्यक्रम काफी प्रचलित थे। गाँवों का 'भाँड़', तमाशा, नौटंकी, व्रज की रासलीला, गुजरात की भवाई, पहाड़ी प्रदेशों का लछा, रामलीला आदि इस दृष्टि से ध्यातव्य हैं।

अनुमानतः स्वयं बल्लभाचार्य की प्रेरणा से 'रासलीला' तथा गोस्वामी तुलसीदास की प्रेरणा से रामलीला का सूत्रपात मध्यकाल में हुआ। ये दोनों 'फिल्ड थियेटर कहे जा सकते हैं। मैथिली मे विद्यापति (१५वीं शती पूर्वार्द्ध) ने 'गोरक्ष-विजय नाटक' लिखकर जिस परंपरा का सूत्रपात किया वह काफी दिनों तक मिथिला, आसाम और नेपाल में प्रचलित रही। मिथिला में इन्हें 'कीर्तनिया नाटक' और आसाम में 'अंकिया नाटक' के नाम से जाना जाता है। संस्कृत नाट्य-पद्धति तथा वैष्णव काव्य-धारा के समन्वय से यह परंपरा विकसित हुई। यहाँ भी वह गद्य-पद्य मिश्रित रूप ही सामने आया। प्रारंभ में पद्य मैथिली में तथा गद्य संस्कृत में होते थे। बाद में दोनों की भाषा मैथिली हो गयी। इनके कथानक श्रीमद्‌भागवत, हरिवंश पुराण तथा महाभारत से लिये गये थे। स्पष्ट है कि सामान्य जन-जीवन सापेक्ष दृष्टि नाट्य-साहित्य में अभी न आ पायी थी।

इस सुदीर्घ परम्परा के सन्दर्भ में विद्यापति ही हिन्दी के सर्वप्रथम नाटककार कहे जायँगे। जैसे डॉ० दशरथ ओझा ने मुनि जिनविजय जी की खोज के आधार पर 'गय सुकुमार रास' को हिन्दी का प्रथम नाटक स्वीकार किया है। मुनि जिन-विजय जी की यह धारणा है कि जिस प्रकार 'संदेश रासक' हिन्दी का प्रथम काव्य-ग्रन्थ है, उसी प्रकार 'गय सुकुमार रास' हिन्दी का प्रथम नाटक है। डॉ० सोमनाथ गुप्त ने महाराज जसवन्त सिंह द्वारा लिखित 'प्रबोध चन्द्रोदय' को प्रथम नाटक माना है; किन्तु यह संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' का पूर्वानुरूप अनुवाद मात्र है। कुछ लोग महाराज विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' को प्रथम नाटक मानते हैं। किन्तु, जैसा कि 'कहानी' वाले अध्याय में मैं कह आया हूँ, यह सब गड़बड़झाला व्यर्थ का है।

मध्यकाल में साहित्य की किसी भी विधा में जनशक्ति अथवा भौतिक दृष्टि नहीं उभर पायी थी—संस्कृत में भी यह दृष्टि अप्राप्त है। भारतीय दर्शन की अलोकपरकता तथा मध्यकाल की निष्क्रिय संत-वाणी ने निराशा और आस्थाहीनता को ही प्रश्रय दिया। इसका विवेचन मैं पहले ही कर आया हूँ। हाँ, वैष्णव-काव्य-धारा में आस्था के स्वर कुछ उभरे हैं, यद्यपि यह भी प्रकारान्तर प्रक्षेपित है—अवतार का लोक-जीवन पर प्रक्षेपण। इससे जन-जीवन थोड़ा उल्लसित होता है और 'रासलीला' तथा 'रामलीला' की नींव पड़ती है। वस्तुतः हिन्दी-नाट्य-परम्परा को लोक-नाट्य-धारा के माध्यम से ही समझने की चेष्टा की जानी चाहिए। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत की परिनिष्ठित परम्परा से हिन्दी को उसका शास्त्र ही मिला, प्रेरणा का अजस्र स्रोत तो लोकजीवन में ही प्रवाहित होता रहा। काव्यक्षेत्र में भी यह स्थापना सही है।

जन-जीवन की दृष्टि जो संस्कृत नाटक के स्वर्णकाल में भी नहीं पनप सकी थी, भारतेन्दु में उभर आयी। भारतेन्दु ने सर्वप्रथम नाट्य-साहित्य को वृहत् धरातल प्रदान किया। भारतेन्दु के पूर्व लोकरुचि को भ्रष्ट करने में पारसी के रंगमंच, 'इन्द्रसभा' तथा सामन्ती परम्परा ने काफी योगदान किया था। फलतः भारतेन्दु का कार्य-भार कठिनतर था। उन्हें उन दूषित सामन्ती प्रभावों का परिहार तो करना ही था साथ ही हिन्दी की मौलिक एवं सशक्त नाट्य-परम्परा का सूत्रपात भी करना था। उन्होंने ये दोनों कार्य बखूबी किये। यद्यपि विद्यासुन्दर में पारसी प्रभाव भी देखा जा सकता है, किन्तु यह एक तो कैशोर अवस्था में लिखित है, दूसरे बँगला से अनूदित भी है, जहाँ विगलित भावुकता का महत्त्व शरत्चन्द्र तक सर्वाधिक स्वीकृत था।

भारतेन्दु ने जिस समय नाटक लिखना शुरू किया हिन्दी-क्षेत्र में व्यावसायिक स्तर पर रंगमंच का विकास नहीं हुआ था। वैसे अँगरेजों ने बम्बई, मद्रास, कलकत्ता जैसे बड़े शहरों में मनोरंजन के लिए अँगरेजी नाटकों के अभिनय की प्रथा चलायी थी। यहाँ कालिदास का 'शकुन्तला' भी अभिनीत हो चुका था। इधर

बँगला में देशप्रेम और विदेशी-शासन की तीव्र आलोचना से युक्त नाटकों का प्रणयन प्रारंभ हो चुका था। साथ ही पारसी नाटकों के कारण लोकरुचि नाटकों की ओर मुड़ी थी। अतः राष्ट्रीय जागरण के प्रथम प्रहर में भारतेन्दु ने जब नाट्य-रचना प्रारंभ की, स्थिति इनके अनुकूल थी।

भारतेन्दु का हिन्दी-साहित्य में वही स्थान है जो रूसी-साहित्य में पुश्किन को प्राप्त है। अल्पकाल में ही इन्होंने गद्य-साहित्य की प्रायः सभी दिशाओं में प्रभूत एवं सशक्त साहित्य-रचना की।

उन दिनों समस्त देश में पुनर्जागरण एवं पुनर्मूल्यांकन की लहर फैल रही थी। इसका विवेचन हम पूर्व ही कर आये हैं। सामाजिक कुरीतियों के प्रति तीव्र आक्रोश एवं व्यंग्य उस युग की विशेषता है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में धार्मिक कर्मकाण्ड तथा 'अंधेर नगरी चौपट राजा' में प्रशासन पर भारतेन्दु ने तीव्र, कटु बौछार किये। 'भारत-दुर्दशा' में जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, उन्होंने विदेशी शासन में फँसे भारतीय जीवन की दुर्दशा का वर्णन किया है। किन्तु, इतना जागरूक होते हुए भी भारतेन्दु के नाटकों में वह आग नहीं है जो जनचेतना को प्रज्वलित कर दे। देशप्रेम और राजभक्ति का संघर्ष भारतेन्दु में इतना तीव्र है कि अधिक-से-अधिक वे एक प्रवृत्तिगत सन्तुलन ही स्थापित कर सके— 'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।' महारानी विक्टोरिया के न्याय और औचित्य पर उनकी आस्था है। द्वितीय अंक में 'भारत' कहता है— 'परमेश्वर वैकुण्ठ में और राजराजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी ?' पाँचवें अंक में भारत की दुर्दशा दूर करने की चेष्टा की जाती है, जो विश्वासघात के कारण असफल होती है। अन्त में भारत भाग्य, परमात्मा और हर हाइनेस की दुहाई देता हुआ विदा होता है। यह एक भयानक अन्त है— अत्यधिक निराशाजनक।

अतः भारतेन्दु में विद्रोह तो था, पर क्रान्ति न थी—जलन तो थी, पर प्रज्वलन का अभाव था।

'सत्यहरिश्चन्द्र' में सत्यनिष्ठा का चित्रण और 'नीलदेवी' में नारी-चरित्र के उदात्त तत्त्वों का समावेश किया गया है। 'नीलदेवी' का चरित्र-शील अपने संपूर्ण तेज और शक्ति के साथ प्रसाद के ध्रुवस्वामिनी, अलका आदि स्त्री-पात्रों में अभिव्यक्त हुआ। शील-निरूपण की दृष्टि से चरित्रों का यह विकास द्रष्टव्य है। वस्तुतः पाश्चात्य संस्कृति की तीव्र प्रतिक्रिया में प्रसाद ने भारतीय संस्कृति के प्रतीक जिन तेजोपम नारी-चरित्रों का निर्माण किया, 'नीलदेवी' का चरित्र उन्हें पूर्वाशित करता है।

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से भारतेन्दु में एक विचित्र असंगति मिलती है। नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में संस्कृत नाट्य-शास्त्रीय विधानों की उपयोगिता पर उन्होंने प्रश्न-चिह्न लगा दिया था। वे कहते हैं— "प्राचीन काल के अभिनयादि के

सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शकमण्डली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्यकाव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त विनोदन कर गये हैं किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्यकाव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।"[१]

किन्तु भारतेन्दु के नाटक शिल्प की दृष्टि से संस्कृत के प्राय: अनुवर्ती हैं। नान्दीपाठ, भरतवाक्य, सन्धि, कार्यावस्था आदि वस्तुव्यवस्था, अंकावतार, विष्कम्भक, काव्यमयता आदि पुंखानुपुंखरूप में संस्कृत से आयातित हैं। 'चन्द्रावली' में स्वगत वचन की मात्रा अत्यधिक है। शिल्प में नये प्रयोग नहीं के बराबर है। अत: शिल्प की दृष्टि से भारतेन्दु की कोई भी उल्लेख्य उपलब्धि नहीं है।

भारतेन्दु एवं उस मंडल के नाटककारों में मुख्य तीन प्रवृत्तियाँ हैं—

१. पौराणिक, ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित जीवन के उदात्त तत्त्वों को स्वर प्रदान करना। भारतेन्दु का 'सत्यहरिश्चन्द्र', भवदेव उपाध्याय का 'सुलोचना सती' आदि।

२. ऐतिहासिक तथा तत्कालीन कथाओं के आधार पर उद्बोधन करना तथा समस्याओं का निरूपण। भारतेन्दु का 'भारतदुर्दशा', 'नीलदेवी', राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप', श्रीनिवासदास का 'संयोगिता स्वयंवर', प्रतापनारायण मिश्र का 'हठी हमीर' आदि।

३. तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक असंगतियों पर व्यंग्य करना। यह कार्य मूलत: प्रहसनों के माध्यम से हुआ। भारतेन्दु का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी चौपट राजा', बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान', प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि कौतुक रूपक', राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे' आदि।

कुल मिलाकर यह काल प्रयोग-काल था जिसमें शिल्प की मौलिकता तो नहीं है, किन्तु वस्तु-चयन का वैविध्य तथा पात्र-चुनाव में दृष्टिकोण का विकास काफी मात्रा में है।

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु की सुधारवादी दृष्टि कुछ विकसित हुई। यहाँ भी जीवन के सात्त्विक तथा उदात्त तत्त्वों एवं मूल्यों को उभारने का प्रयास है। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुने', मिश्रबन्धु का 'शिवाजी', प्रेमचंद का 'कर्बला' आदि इसके प्रमाण हैं। 'कर्बला' में मुस्लिम संस्कृति को पहली बार सहानुभूति दी गयी, जिसका विकास बाद में हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में देखा जा सकता है। पाश्चात्य सभ्यता की असंगतियों पर तीखे व्यंग्य भी किये गये—पं० बद्रीनाथ भट्ट के 'विवाह-विज्ञापन' तथा 'मिस अमेरिका' का व्यंग्य काफी तीखा है। जी० पी० श्रीवास्तव ने भी प्रहसनों की रचना की, किन्तु इनमें हास्य ही उभरा—व्यंग्य बहुत कम है।

---

१. नाटक, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना (सन् १९१४ ई०), पृ० १३।

श्री जयशंकर प्रसाद का आविर्भाव हिन्दी-नाट्य-साहित्य में युगान्तरकारी है। प्रसादजी एक निश्चित उद्देश्य लेकर नाट्य-रचना मे प्रवृत्त होते हैं। उन्हीं के शब्दो में उनका उद्देश्य इस प्रकार है—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक ज्ञात होता है।··क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमे मुझे पूर्ण सन्देह है।··मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्त्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।"[१] विश्लेषण करने पर ये निष्कर्ष निकलते है—(क) अपना इतिहास सांस्कृतिक विरासत की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि वह 'जलवायु' तथा निजी चिन्ताधारा की दृष्टि से अनुकूल है। (ख) अतः उसका अध्ययन पुनर्जागरण एवं अपनी उपलब्धियों के पुनर्मूल्यांकन के सर्वाधिक उपयुक्त है और (३) प्रसाद ने भारतीय इतिहास के उन्हीं प्रकाशित-अप्रकाशित घटनाओं का उद्घाटन-पुनरुद्घाटन किया जिनका सम्बन्ध वर्त्तमान से विशेष है—उत्कर्ष और अपकर्ष दोनो से। समासतः प्रसादजी का उद्देश्य अपने नाटकों में यह था कि प्राचीन भारतीय इतिहास की चुनी हुई अवस्थाओं पर वर्त्तमान का प्रक्षेपण किया जाय। फलतः उनका प्रत्येक नाटक राष्ट्रीय जागरण तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रतीक है। स्कन्दगुप्त तथा चन्द्रगुप्त के पराक्रम और राष्ट्रप्रेम नाटक-रचना के काल में एक आवश्यक वस्तु थे और आज भी हैं। चाणक्य की मेधा और राजनीति आज भी नेताओं के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। वस्तुतः प्रसाद ने भारत के 'स्वर्ण-युग' के सांस्कृतिक चित्रों को उभारा। 'चन्द्रगुप्त मौर्य' मे चित्रित बौद्ध-ब्राह्मण-संघर्ष सांस्कृतिक मूल्यांकन की दृष्टि से ही दिखलाया गया है। बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रति चाणक्य के व्यंग्य एवं आक्रोश प्रकारान्तर से गाँधीवादी शांतिनीति और अहिंसावाद के प्रति व्यंग्य और आक्रोश माना जा सकता है।

'ध्रुवस्वामिनी' में निष्क्रिय हिन्दू मान्यताओं और रुढ़ियों पर आघात किया गया है, 'ध्रुवस्वामिनी का व्यक्तित्व विद्रोह और क्रान्ति से निर्मित व्यक्तित्व है। शाश्वत नारी-समस्या को इसमे उभारा गया है, किन्तु प्रसाद के नारी-पात्र निराशा-वादी नहीं हैं, वे शस्त्र भी उठा सकती हैं। वस्तुतः प्रसाद के नारी-पात्र पुरुषो के कदम-ब-कदम और कंधे-से-कंधा मिलाकर चलती हैं—देवसेना, अलका ध्रुवस्वामिनी आदि ऐसी ही हैं। प्रसाद ने वर्त्तमान को जो संदेश देना चाहा, उसके लिए उन्होने प्रतीक चरित्रों एवं प्रतीक घटनाओं को चुना।

इन प्रतीक चरित्रों एवं घटनाओं के चुनने में उनकी शोधवृत्ति निरन्तर प्रगति-शील रही। निश्चय ही उन्होंने भारतीय इतिहास के महत्त्वपूर्ण अज्ञात अंशो को प्रकाश में लाया। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। जैसे—चन्द्रगुप्त मौर्य का

१ विशाख (प्रथम संस्करण) की भूमिका

क्षत्रियत्व-प्रतिपादन, मालवों और क्षुद्रकों का ऐतिहासिक मिलन और भारत में सिकन्दर की पराजय, भारत के पतन में बौद्ध मठाधीशों का विभीषण-कर्म (स्कन्दगुप्त), चन्द्रगुप्त (गुप्तवंशी) के पूर्व रामगुप्त भी एक सम्राट् था (ध्रुवस्वामिनी) आदि। इसके अतिरिक्त प्रसाद ने इतिहास का पुनर्मूल्यांकन भी उपस्थित किया। जैसे, नारी-जागरण—राष्ट्रीय क्षेत्र में 'चन्द्रगुप्त मौर्य' और सामाजिक क्षेत्र में 'ध्रुवस्वामिनी', चाणक्य का पुनर्मूल्यांकन आदि। स्पष्ट है प्रसाद में उद्दाम राष्ट्रीयता थी और इसके लिए उन्होंने शोध तो किया ही साथ ही घटनाओं को अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए काल्पनिक मोड़ भी दिया। जैसे, कार्नेलिया का भारत की प्रशंसा में गीत गाना, चन्द्रगुप्त-चाणक्य का तक्षशिला में मिलना आदि। अपनी शोध-वृत्ति की दृष्टि से प्रसाद अपने पूर्व और पश्च के नाटककारों में अकेले हैं। यह वृत्ति सिर्फ दो व्यक्तियों में थी और वह भी उपन्यास-क्षेत्र में आचार्य चतुरसेन शास्त्री (वैशाली की नगरवधू) और डॉ० रांगेय राघव (महायात्रा) में। अन्यथा भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण की यह प्रवृत्ति कहीं नहीं है।

भारतीय परम्परा में दुःखान्त नाटक स्वीकृत नहीं है—प्रसाद ने इसे स्वीकार किया है। प्रसाद का कोई भी नाटक दुःखान्त नहीं है। 'स्कन्दगुप्त' का घोर निराशावादी वातावरण भी हूण-पराजय के कारण अन्त में आशावादी बन गया है। वैसे ही 'अजातशत्रु' का अन्त अत्यन्त कारुणिक है; किन्तु आखिर में बुद्ध की करुण-सौम्य मूर्ति की झलक के कारण वह भी दुःखान्त होने से बच जाता है। अतः यहाँ भी प्रसाद भारतीय नाट्य-विधान के उज्ज्वल पक्ष को स्वीकार करते हैं।

प्रसाद की सबसे बड़ी उपलब्धि चरित्र-चित्रण में है। हिन्दी-नाटक के क्षेत्र में सम्भवतः यह पहला अवसर था कि चरित्रगत शील के उद्घाटन में कोई नाटककार प्रवृत्त हुआ। प्रसाद के पूर्व नाटक रस-प्रधान लिखे जाते थे। प्रसाद ने पहले-पहल चरित्रप्रधान नाटकों की रचना की। यह रसप्रधान नाट्य-धारा को सशक्त मोड़ देने का प्रयास था। चरित्रों को विविध परिस्थितियों में रखकर प्रसाद ने देखा तथा उनके अन्तर्द्वन्द्वों को स्पष्ट किया। प्रसाद के पूर्व के नाटकीय पात्र एकबारगी जीवन के किसी पक्ष के प्रतिनिधि होते थे। प्रसाद के पात्रों के साथ ऐसी बात नहीं है। यहाँ सभी पात्र मानवोचित धरातल पर उभरे हैं, इनका शील मनोवैज्ञानिक विश्वसनीयता अर्जित करता है। इनके पात्र प्रतीक होने के साथ ही गतिशील भी हैं। विरोधी वृत्ति वाले चरित्रों के निर्माण के कारण संघर्षचित्रण में प्रसाद को काफी सफलता मिली। चाणक्य प्रसाद का सर्वश्रेष्ठ चरित्र-विधान है। इतनी उद्दाम जिजीविषा, दृढ़ इच्छाशक्ति, कर्मठता एवं आत्मसंयम से युक्त अन्तर्विरोध अन्य पात्रों में नहीं मिलता। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह भी ध्यातव्य है कि प्रसाद ने मुख्यतः उन्हीं पात्रों को विशेषतया उभारा है जो उनकी उद्देश्यसिद्धि में सहायक हैं। "अतएव तत्कालीन उत्कर्षापकर्ष के यथार्थ चित्रण के अभिप्राय से लेखक ने कुछ विशिष्ट

प्रतिनिधियों को चुनकर उनके गुणशील और जीवनवृत्त के रसोद्बोधन की चेष्टा की है जो वर्त्तमान को जीवित रखने की चेष्टा कर सके।"[1]

शिल्प की दृष्टि से भी प्रसाद के नाटकों में निश्चित प्रगति हुई। भारतीय नाट्य-विधान को बहुत हद तक स्वीकार करते हुए भी प्रसाद ने युगानुकूल आवश्यक नाट्य-विधानों को अँगरेजी से आयादित किया। प्रसाद के नाटकों की कार्य-सक्रियता तो पूर्णतः अँगरेजी नाट्य-शिल्प की देन है। प्रसाद ने नाट्य-विधान में इतनी त्वरा दी है कि कभी-कभी वस्तु की असंगति भी हम पकड़ नहीं पाते। यह नाट्य-सक्रियता की त्वरा का ही प्रतिफलन है कि हम 'चन्द्रगुप्त मौर्य' की पच्चीसवर्षीय कालावधि जो काल-संकलन की दृष्टि से अनुचित है के ऐतिहासिक व्यतिक्रम को विस्मृत कर जाते हैं। संस्कृत नाटकों की करुणा तथा काव्यमय वातावरण प्रसाद के नाटकों में सुरक्षित हैं। प्रसाद के प्रतिनिधि नाटक अभिनेय भी नहीं हैं। घटनाविस्तार, क्षिप्र दृश्यपरिवर्तन, लम्बे दार्शनिक भाषण आदि कुछ ऐसे प्रयोग हैं कि प्रसाद के नाटक रंगमंच के अनुकूल नहीं रह जाते। किन्तु इस तथ्य का दूसरा पक्ष भी है। प्रसाद रंगमंच के अनुकूल नाटक के नहीं, नाटक के अनुकूल रंगमंच के पक्षधर थे। फिर, वैज्ञानिक उपकरणों से गतिशील रंगमंच का भी निर्माण किया जा सकता है। विशेष शिक्षाप्राप्त अभिनेता उन नाटकों का अभिनय भी कर सकते हैं। अतः प्रसाद के नाटक यदि अभिनेय नहीं हैं तो इसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व अविकसित हिन्दी रंगमंच पर भी है।

ऐतिहासिक नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, उग्र, गोविन्दवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास प्रमुख हैं। प्रेमीजी ऐतिहासिक वस्तु की दृष्टि से प्रसाद के पूरक हैं। उनके नाटकों में मुगलकालीन भारत का काफी सहानुभूतिपूर्ण चित्र खींचा गया है। 'कर्बला' में मुस्लिम सभ्यता को जो सहानुभूति प्रेमचन्द ने दी थी, प्रेमीजी ने उसका काफी विस्तार किया। वस्तुतः मुगलकाल दो संस्कृतियों—इस्लाम और हिन्दू—के समन्वय का काल था। तत्कालीन शासकों तथा साहित्यकारों ने भी हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य पर जोर दिया। साहित्य-क्षेत्र में कबीर और राजनीतिक क्षेत्र में अकबर इस ऐक्य के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि थे। प्रेमीजी ने वर्तमान राष्ट्रीय जागरण के सन्दर्भ में इस ऐक्य का महत्त्व समझा है। इसी ऐक्य-भावना का, इतिहास के माध्यम से, प्रेमीजी ने संग्रह एवं पोषण किया है। यह प्रसाद का ही कार्य था, जिसे प्रेमीजी ने आगे बढ़ाया। अनुकूल कथानकों का चुनाव काफी सावधानी से किया गया है। प्रेमी ने प्रसाद की अलंकृत शैली को नहीं अपनाया। प्रसंग तथा पात्रानुकूल संवाद-योजना में प्रेमीजी काफी पटु हैं। फलतः प्रसाद के नाटकों की अपेक्षा यहाँ स्वाभाविकता अधिक है। प्रेमीजी के नाटक रंगमंच के अनुकूल भी हैं और उनके सफल अभिनय कई स्थानों पर किये गये हैं। किन्तु, प्रसाद के नाटकों में जो गुरु गम्भीर वातावरण, औदात्य, चरित्र-शील-निर्माण, घात-प्रतिघात

1. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २५५-५६।

और सक्रियता है, प्रेमी के नाटकों में उनका अभाव ही है। उदयशंकर भट्ट के 'दाहर वा सिन्ध पतन' और 'विक्रमादित्य' ऐतिहासिक नाटक हैं। 'दाहर' भट्ट जी के अनुसार, हिन्दी का सर्वप्रथम दुःखान्त नाटक है, किन्तु भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक को इसका श्रेय मिल चुका है।

पौराणिक नाटकों का भी काफी प्रणयन हुआ है। सभी में जीवन को प्रेरित करने का दृष्टिकोण ही प्रधान है। प्रसाद का 'जनमेजय का नागयज्ञ' महाभारत के अन्तिम काल पर आधारित है। आर्य-अनार्य संस्कृतियों के संघर्ष-समन्वय का चित्र यहाँ है। सुदर्शन की 'अंजना' का मानवीय धरातल स्तुत्य है। अन्य उल्लेख्य नाटकों में गोविन्दवल्लभ पंत की 'वरमाला' रोमांटिक वातावरण और रंगमंचीय सफलता की दृष्टि से ध्यातव्य है। उग्र का 'गंगा का बेटा', पौराणिक नाटकों के प्रतिनिधि उदयशंकर भट्ट के 'अम्बा' और 'सगरविजय' आदि, तथा श्री जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' बहुप्रशंसित एवं उल्लेख्य कृतियाँ हैं।

इन पौराणिक नाटकों में एक प्रमुख विशेषता स्पष्ट है कि इनके निर्वचन (Interpretation) आधुनिक युग के अनुकूल है। इन्हें मानवीय धरातल पर परखा गया है। इस युग के पूर्व यह प्रवृत्ति अदूर्वाशिता ही रही।

प्रसाद के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं सशक्त प्रतिभा हैं श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र। हिन्दी में समस्या-नाटकों के ये प्रवर्तक हैं। अँगरेजी नाट्य-साहित्य में यह श्रेय इब्सन को प्राप्त है। अँगरेजी में समस्या-नाटककारों के तीन वर्ग हैं—

(क) पराप्राणतत्त्वदर्शी (Meta-biological problem plays)—इब्सन, ग्रीन प्रभृति लेखक इस कोटि में हैं।

(ख) अतिनायकवादी (Super hero plays)—शॉ इस वर्ग के प्रतिनिधि नाटककार हैं।

(ग) समाजतत्त्वदर्शी (Sociological problem plays)—यह धारा अपेक्षाकृत नवीन है। जॉन क्यूरी इसके प्रतिनिधि लेखक हैं।

इन सभी वर्गों में जो समानता है वह है बौद्धिक आग्रह। बुद्धि और विवेक पर ये नाटककार विशेष बल देते हैं।[१]

---

१. समस्या-नाटकों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) सामाजिक समस्याओं के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण, बौद्धिक आग्रह, युग और समाज की समस्याओं का गहरा ज्ञान।

(ख) भावुकता तथा रोमांटिक दृष्टि की उपेक्षा।

(ग) अपारम्परिकता; रूढ़ियों और परम्परागत तथ्यों तथा उनकी विकृतियों पर निर्मम प्रहार।

(घ) नारी-समस्या—शिक्षा, प्रेम, विवाह। लक्ष्मीनारायण मिश्र विशेषतः यौन-समस्याओं को उभारते हैं।

(ङ) कार्य-कारण की निरूपण-पद्धति, मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया-फलक पर चरित्र-विश्लेषण।

हिन्दी के सर्वप्रथम समस्या-नाटक 'संन्यासी' का प्रकाशन सन् १९२३ ई० में हुआ। इसकी प्रेरणा के विषय में मिश्रजी का कथन है— "पहले महायुद्ध की समाप्ति पर कैथराइन की 'मदर इंडिया' निकल चुकी थी। यूरोप और अमेरिका के कितने ही लेखक काले, भूरे और पीलों से गोरों को सावधान रहने की चेतावनी दे रहे थे। रंगीन जातियों को सब ओर से हीन करने की चेष्टा की जा रही थी। हिंडमंड ब्लाड, लाथ्रास्तोदर आदि कितने ही राजनीतिक लेखक इस बात की घोषणा कर रहे थे कि भविष्य में गोरों का संकट रंगीन जातियों से बढ़ेगा। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में इस तरह का साहित्य बढ़ रहा था जिसके पढ़ने का सुयोग मुझे विद्यार्थी-जीवन में वहीं मिल गया। इस प्रकार की जो प्रतिक्रिया हुई उसी ने हिन्दी में प्रथम समस्या-नाटक 'संन्यासी' को जन्म दिया। जाति के गौरवबोध, अपनी संस्कृति और अपने पूर्वजों की विभूति-निष्ठा ने 'अन्तर्जगत्' (काव्य, मिश्र) के कवि को समस्या-नाटककार बना दिया। मैंने तभी १९८० वि० (सन् १९२३ ई०) के आसपास ही देख लिया था कि छायावादी हिन्दी-कविता के रूप में अँगरेजी कवियों की लीरिक पोएट्री का जो प्रभाव चल रहा है वह व्यक्ति के उन्माद का फल है। इसमें जातीय जीवन और अपनी संस्कृति का ह्रास है। इसलिए मुक्तक कविताओं को लिखना छोड़कर मैं सदैव के लिए नाटककार बन गया जिसमें जीवन की स्वाभाविक धारणा और उसके चित्रण का

(च) यथार्थवादी दृष्टिकोण, विश्वास की अपेक्षा संशय, जीवन के उज्ज्वल पक्ष की अपेक्षा कृष्ण पक्ष का दिग्दर्शन।

(छ) यौन-समस्या का अनावश्यक प्रश्रय।

(ज) नाटक समस्या-निरूपण का साधन मात्र (Plays being a vehicle for ideas—Shaw)।

(झ) समस्यानिरूपण ही नाटककार का अभिप्रेय, समाधान नहीं, निर्मम व्यंग्य।

(ञ) गोष्ठीनुमा रंगमंचीय विधान।

(ट) दृश्यविधान का अभाव; दृश्यविधान को ये अस्वाभाविक, अव्यावहारिक और अयथार्थ मानते हैं।

(ठ) बृहत् रंग-संकेत।

(ड) यथार्थ भाषा का आग्रह, चुभते हुए संवाद, कवित्व का अभाव।

(ढ) विश्वसनीयता तथा गुण-दोषों से युक्त सहज चरित्रों की अवतारणा। मिश्रजी ने कॉम्पलेक्स चरित्रों की अवतारणा भी की है।

(ण) गीतों का अभाव।

(त) भाषणनुमा संवाद।

(थ) संकलन-त्रय का आग्रह।

(द) कथानक-संघटन की अपेक्षा नाटकीयता और समस्या-प्रेषण का आग्रह।

(ध) नाटकीय संश्लिष्टता तथा संघर्ष का अभाव। इत्यादि।

अवसर है। कर्म-संघर्ष से छूटकर गीतों की रंगीनी में डूब मरने को मैंने पाप समझा।"[१]

स्पष्ट है, मिश्रजी एक उद्दंड और विद्रोही व्यक्तित्व लेकर आते हैं। किन्तु, शॉ की तलस्पर्शिनी दृष्टि, पैना व्यंग्य, उपचार-भंगिमा मिश्रजी में नहीं है। मिश्रजी अपने नाटकों को रोमानी वातावरण से भी मुक्त नहीं रख सके, उनमें भावुकता भी काफी मात्रा में है। उदाहरणार्थ, उनकी सर्वश्रेष्ठ समस्या नाट्य-कृति 'सिन्दूर की होली' का वातावरण पूर्णतः रोमानी है। चन्द्रकला दमित वासना की स्नायुविकला से पूर्ण है, जिसमें विगलित भावुकता की मात्रा भी काफी है।

'संन्यासी' सह-शिक्षा पर व्यंग्य है, 'राक्षस का मन्दिर' वेश्या-समस्या पर आधारित है, 'मुक्ति का रहस्य' शिक्षक और छात्रा के विवाह के कथानक पर आधारित है, 'राजयोग' विवाहिता स्त्री के अवैध प्रेम पर, 'आधी रात' विदेशी मानदंडों पर भारतीय नारी-जीवन की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से लिखा गया नाटक है।

इस प्रकार यद्यपि मिश्रजी के नाटकों में अँगरेजी के समस्या-नाटककारों की विशेषताएँ भले ही नहीं उभरीं, किन्तु भारतीय जन-जीवन की समस्याएँ अवश्य उभरीं। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि मिश्रजी ने अँगरेजी के समस्या-नाटकों से किंचित् प्रेरणा लेकर उसका भारतीयकृत रूप उपस्थित किया है। वैसे भी मिश्रजी पर विदेशी समस्या-नाटककारों का बहुत कम प्रभाव है। शिल्प को छोड़कर प्रभाव अन्य जगह है भी नहीं। शिल्प की दृष्टि से यह विकास ही है। बल्कि एकांकी के विकास में मिश्रजी के समस्या-नाटकों का शिल्प काफी हद तक काम आया। जो भी हो, मिश्रजी प्रसाद के बाद सर्वाधिक महत्त्व के नाटककार हैं। नाटक में लौकिक एवं मानवीय धरातल को पूर्ण प्रश्रय देने का श्रेय इन्हीं को है।

अन्य समस्या-नाटककारों में वृन्दावनलाल वर्मा के कई समस्या-नाटक उल्लेख्य हैं। 'बाँस की फाँस' में सुशिक्षित युवक के भिखारिन के प्रति प्रेम की समस्या है, 'छठा बेटा' में वृद्धावस्था में पुत्रों की क्रूरता से उत्पन्न समस्या पर विचार किया गया है, 'कैद और उड़ान' में मध्यवर्गीय पतनोन्मुख शिकंजों में जकड़ी नारी और उसके सहयोग से वंचित अस्वस्थ, अभावग्रस्त और विकृत पुरुष का चित्र खींचा गया है। 'स्वर्ग की झलक' आधुनिक शिक्षा पर व्यंग्य है।

पौराणिक कथानक लेकर उदयशंकर भट्ट का 'विद्रोहिणी अम्बा' नाटक लिखा गया जिसमें नारी का पुरुष के प्रति विद्रोह दिखाया गया है। राजनीतिक समस्या लेकर लिखने वालों में सेठ गोविन्ददास अग्रणी हैं। 'सेवापथ' में गाँधीवाद की विजय दिखायी गयी है। 'धीरे-धीरे' भी एक राजनीतिक व्यंग्य है। सन् १९३९ ई० में लिखित इस नाटक में कांग्रेस मंत्रिमंडल बन जाने पर आने वाली

१. 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' में दिया गया डॉ० दशरथ ओझा और मिश्रजी के वार्त्तालाप से उद्धृत।

गुत्थियों की चर्चा है। पं० गोविन्दवल्लभ पंत की 'अंगूर की बेटी' मद्यपान की समस्या पर आधारित है। प्रो० कृपानाथ मिश्र का 'मणि गोस्वामी' बहुविवाह से उत्पन्न असंगतियों पर आधारित है। ग्राम-समस्या को लेकर वृंदावनलाल वर्मा ने 'खिलौने की खोज' की रचना की, जिसमें अंधविश्वासों पर गहरी चोट है।

परम्परा का प्रभूत आश्रय तथा देश में समस्या के होते हुए भी मिश्रजी के बाद कोई दूसरा इतना सशक्त नाटककार नहीं हुआ है जो नवीन पथ का निर्देश कर पाता। बाद में एकाकी नाटकों का ही अधिक विकास हुआ। किन्तु यह साहित्य-विधा पृथक् विवेचन की अपेक्षा रखती है। नाटक में इसे अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता।

नाटकों का विकास प्राय: अवरुद्ध ही है। भविष्य की बात तो भविष्य के गर्भ में है। इधर रेडियो-नाटकों के रूप में नाट्य-साहित्य का नया विधान मिलता है। डॉ० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्र नाथ अश्क, राधाकृष्ण, विष्णु प्रभाकर प्रभृति लेखक इस क्षेत्र में उल्लेख्य हैं। किन्तु रेडियो-नीति पर सरकारी नियंत्रण कुछ ऐसा है कि जीवन के कटु यथार्थ इसमें नहीं उभर पाते। फलत: रेडियो-नाटकों में वह शक्ति नहीं आ पायी, जो अपेक्षित थी। हाँ, रेडियो-नाटकों के माध्यम से कुछ अच्छे प्रहसन लिखे गये और हास्य-रस का अच्छा समावेश हुआ है। शिल्प की दृष्टि से रेडियो-नाटक सर्वथा नवीन प्रयोग है, जिसमें सिर्फ वाचिक अभिनय के माध्यम से ही अपेक्षित वातावरण एवं प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। इसमें लेखक का दायित्व बढ़ भी जाता है और घट भी जाता है। बढ़ जाता है इसलिए कि उसे कथोपकथनों को अधिक सप्राण, प्रभविष्णु और संप्रेष्य बनाना होता है और घट जाता है इसलिए कि रंगमंचीय विधान तथा अभिनेताओं के आहार्य एवं आंगिक अभिनय की अपरिहार्य अपेक्षा नाटक के अभिप्रेत प्रभाव के लिए नहीं रह जाती। नाटक के इस अंग की सम्भावनाएँ काफी पुष्ट एवं महनीय हो सकती हैं, बशर्ते सरकारी स्वार्थपूर्ण नीतियों का नियंत्रण समाप्त हो जाय।

अध्याय ११

विधा-वैविध्य : आलोचना

वस्तु का मूल्यांकन करना मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है और सौन्दर्यबोध उसका सहज संस्कार। उसके सहज संस्कार से उसके अनुभव रचनात्मक साहित्य के रूप में अभिव्यक्त होते हैं और स्वाभाविक वृत्ति के कारण वह मूल्य आँकता है—आलोचना करता है। संस्कार मनुष्य का अनुभूति पक्ष है और वृत्ति बुद्धि पक्ष। जिस प्रकार अनुभूति का नियंत्रण एवं चैनलाइजेशन बुद्धि करती है, वैसे ही आलोचना रचनात्मक साहित्य का नियंत्रण एवं नियमन करती है। अतः साहित्यकार अनुभव करता है, आलोचक उसका अनुभावन। फलतः आलोचना हमेशा रचनात्मक साहित्य का अनुसरण करती है। पहले साहित्य का निर्माण होता है, फिर आलोचना का; पहले वस्तु और बाद में मूल्यांकन।

हिन्दी-आलोचना संस्कृत-साहित्यशास्त्र की समृद्ध परंपरा से अपना अन्तःसंस्कार करती है। संस्कृत में साहित्यशास्त्र के तत्वों का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। वहाँ प्रश्न उठा—काव्य की आत्मा क्या हो? उत्तर में छह संप्रदाय आये[1]—आत्मवादी—रस; शरीरवादी—वक्रोक्ति, अलंकार, रीति; आत्मशरीरवादी—ध्वनि; और उपयोगितावादी—औचित्य। सभी ने अपनी-अपनी रुचि और पहुँच के अनुसार काव्यात्मा की व्याख्या की। काव्य के किसी एक पक्ष का अतिशय विश्लेषण करना और उसे साहित्यशास्त्र का चरम सिद्ध करना, इन सिद्धान्तों का उद्देश्य था।

किन्तु, यद्यपि संस्कृत में सिद्धान्तपक्ष का गूढ़ातिगूढ़ विश्लेषण मिलता है, उनका विनियोग प्रौढ़ नहीं है। संस्कृत के साहित्यशास्त्रियों का सारा कौशल और प्रतिभा अपने-अपने सिद्धान्तों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण तथा भेद-प्रभेद-निरूपण में ही व्ययित हुई। वे विनियोग पद्धति से सम्भवतः अपरिचित थे। अधिक-से-अधिक वे सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए दो-चार उदाहरण दे देते थे। अर्थात्

---

१. (क) न हि रसादृते कश्चिद् अपि अर्थः प्रवर्तते। —भरत, नाट्यशास्त्र, ६/वार्तिक।

(ख) सौन्दर्यम् अलङ्कारः। —वामन, काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १, १, २।

(ग) रीतिः आत्मा काव्यस्य। —वही, १, २, ६।

(घ) काव्यस्यात्मा ध्वनिः। —आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, १, १।

(ङ) वक्रोक्तिजीवितम्। —कुन्तक

(च) औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। —"क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार-चर्चा, १/२।

उनका विनियोगपक्ष लक्षण-लक्ष्य-पद्धति तक ही सीमित था। अत: संस्कृत में सामर्थ्यवान् साहित्यशास्त्र का निर्माण तो हुआ, आलोचना का निर्माण नहीं हो सका। समवाय-समीक्षा-पद्धति संस्कृत में नहीं मिलती।

संस्कृत-साहित्यशास्त्र की यह सीमा हिन्दी में भी बहुत दिनों तक अटूट रही। हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में आलोचना का विकास उसी लक्षण-लक्ष्य-पद्धति पर हुआ। वस्तुत: संस्कृत में जिस लक्षण-लक्ष्य-पद्धति की स्थापना हुई रीतिकाल में उसका पूर्ण विकास देखा जा सकता है। रीतिकाल तक हिन्दी में समवाय आलोचना का जो विकास नहीं हो पाया उसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व संस्कृत-साहित्यशास्त्र पर है। रीतिकालीन आचार्यों को वातावरण और परंपरा दोनों रूढ़ मिले थे और कोई नयी प्रेरणा और दृष्टि मिली नहीं—भारतीय मेधा का विकास ही अवरुद्ध हो गया था। फलत: रीतिकालीन आचार्यों ने कालक्रमानुगत स्थिति को बरकरार रखा।

हिन्दी-रीतिपरंपरा का मूल प्रेरणा-स्रोत संस्कृत-साहित्यशास्त्र है। वैसे प्राकृत-अपभ्रंश में भी कुछ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। सिद्ध शान्तिपा या रत्नाकर शान्ति (सन् १००० ई०) का छन्दशास्त्र पर लिखा 'छन्दोरत्नाकर' तथा आचार्य हेमचन्द्र सूरि (सन् १०८८ ई०) के 'प्राकृत-व्याकरण', 'छन्दोनुशासन' और देशी 'नाममाला कोश' इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। जैन मुनि 'नयनन्द' के 'सुदर्शनचरित्र' में भी प्रसंगानुकूल नख-शिख, रति, शृंगार आदि का वर्णन मिल जाता है। इस ग्रन्थ में नायिकाभेद, पूर्वराग तथा संयोग-वियोग का वर्णन मिलता है।[1] किन्तु ये सारे वर्णन प्रसंगवश ही मिलते हैं। अत: प्राकृत-अपभ्रंश की उपरिलिखित रचनाओं में काव्यशास्त्र की एक क्षीण धारा का ही परिचय मिलता है। "इससे केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि इस रस-नायिका-भेद आदि पर भी कुछ-न-कुछ वर्णन हमें प्राचीन हिन्दी के ग्रन्थों में मिल जाता है और यह संकेत मिलता है कि हिन्दी-रीतिपरम्परा की एक क्षीण धारा अपभ्रंश-काव्य में भी अवश्य ही रही होगी जिसका अभी पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सका।"[2]

भक्तिकाल में, केशव से पूर्वकाव्यशास्त्रीय परिगण्य रचनाओं में कृपाराम की 'हिततरंगिनी', नन्ददास की 'रसमंजरी', रहीम का 'बरवै नायिकाभेद' आदि रखे जा सकते हैं। किन्तु इसमें भी वही लक्षण-लक्ष्य-पद्धति का पालन हुआ है।

भक्तिकाल तथा उसके पूर्व के कवियों की स्वतंत्र रचनाओं में उनका काव्यादर्श देखा जा सकता है। विद्यापति का काव्यादर्श प्रेम, शृंगार और भक्ति का चित्रण है। कबीर का काव्यादर्श जीवन का शिवम् पक्ष एवं सत्य का उद्घाटन है। जायसी साहित्यरचना में यश की भी कामना करते हैं। सूर आनन्द पर अधिक बल देते हैं तो तुलसी उदात्त पर। दोनों काव्यशास्त्र से पूर्णत: परिचित हैं। किन्तु इसे ही हम आलोचना नहीं कह सकते। यद्यपि यह भी सही है कि सूर ने ही व्यवहारत:

१. हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० ४८-४९।
२. डॉ० भगीरथ मिश्र, हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ४९

'वात्सल्य रस' की तथा तुलसी ने 'भक्ति रस' की प्रतिष्ठा की, जो बाद में साहित्य-शास्त्र में विवेच्य होने लगे। किन्तु ऐसा उनलोगों ने रचनात्मक साहित्य के माध्यम से किया, मूल्यांकनप्रक्रिया के माध्यम से नहीं। हाँ, भक्तिकाल में वैष्णवभक्ति के मूल्यांकनक्रम में ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु वह भी संस्कृत में, यद्यपि यह भी तथ्य है कि वैष्णव-भक्तिशास्त्र के निर्माण की प्रेरणा हिन्दी-काव्यग्रन्थों से ही मिली।

रीतिकाल में लक्षण-लक्ष्य-पद्धति का पूर्ण विकास हुआ। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के परीक्षण-विश्लेषण के कार्य नहीं के बराबर हुए; व्याख्याएँ खूब हुईं। ये व्याख्याएँ भी विवेचन की सीमा तक नहीं गयीं, पद्धति-निरूपणपरक ही रहीं। वस्तुत: रीतिकालीन आचार्य काव्यशास्त्रीय चर्चाओं में बुद्धि, तर्क, विवेक के स्थान पर कवि-संस्कार को ही प्रधानता देते रहे। रीतिकाल 'कला के लिए कला' का काव्यादर्श लेकर चला। "निर्माण की सुघरता, विभाव और अनुभाव आदि की यथाक्रम योजना, विभिन्न संचारी-व्यभिचारी भावों के नियमबद्ध निरूपण—यही काव्य के मुख्य लक्ष्य रह गये थे। काव्यसमीक्षा भी इन्हीं रचनात्मक बारीकियों और पद्धति-रक्षा के उपक्रमों तक सीमित थी। अलंकारों की संख्या बढ़ती जा रही थी, उनके सूक्ष्म भेदों-उपभेदों की गणना साहित्यिक विवेचन का मुख्य आधार बन गयी थी।"[१]

रीतिकाल में सिद्धान्त-स्वीकृति की दृष्टि से दो काव्य-सिद्धान्त अपेक्षाकृत अधिक स्वीकृत हुए— अलंकार और रस। ध्वनि को भी रीतिसिद्ध रचनाओं में काफी स्थान मिला। महाकवि केशवदास अलंकारवादी थे। मतिराम, देव आदि रसवादी आचार्य हुए। इससे इतना हुआ कि हिन्दी में अलंकार और रस पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके; बल्कि रीतिकालीन चमत्कारवादिता के लिए अलंकार ही स्वीकृत हुआ। बिहारी और प्रतापसाहि मूलत: ध्वनिवादी हैं।

भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी-आलोचना की स्थिति यही थी। स्वतंत्र सैद्धान्तिक विवेचन तथा विनियोग-पद्धति का सूत्रपात अब तक नहीं हुआ था। सैद्धान्तिक विवेचन के सूत्रपात का श्रेय भारतेन्दु को ही है। अपनी लघु पुस्तक 'नाटक' में भारतेन्दु ने भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों का एक उपयोगी संकलन उपस्थित किया। गद्य-विकास के कारण विश्लेषण-पद्धति स्वीकृत हो रही थी। साथ ही, मध्यकाल की अपेक्षा रचनात्मक साहित्य की विधाओं तथा जनरुचि में भी काफी परिवर्त्तन और विस्तार हो चला था। नाटक, एकांकी, कहानी तथा अनूदित उपन्यास आदि साहित्य के नये-पुराने रूप नयी चेतना से संपृक्त होकर उभर रहे थे। भारतेन्दु ने परिवर्त्तित जनरुचि को पहचाना था। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि "जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप में चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्त:करण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आलोचना, इतिहास विशेषांक, पृ० १७४–७५।

दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है।"[१] भारतेन्दु ने नाट्य-समीक्षा में नये-पुराने का समन्वय उपस्थित किया।

आलोचना के विनियोगपक्ष में किसी प्रकार का सैद्धांतिक आग्रह अभी नहीं आया था। आलोचक अपनी रुचि, क्षमता और प्रवृत्ति के अनुकूल रचनाओं के गुण-दोष का विवेचन कर रहे थे। प्रेमघन, श्रीनिवास दास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि ऐसे ही समीक्षक थे।

अब तक की हिन्दी-आलोचना में सामर्थ्य, पैठ और व्यवस्था का अभाव था। भक्तिकाल और रीतिकाल की समीक्षा-पद्धति अपने युग के अनुकूल थी, पर व्यवस्थित और सामर्थ्यवान् नहीं थी। भारतेन्दु ने युगानुकूल जो चर्चाएँ कीं उन्हें प्रयोग-कालीन ही कहा जायगा। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रयत्नों से आलोचना अधिक व्यवस्थित तथा दृष्टिकोण अधिक पुष्ट एवं सुनिश्चित होने लगा। आचार्य द्विवेदी के काव्यादर्श में संस्कृत काव्य की गुरु-गम्भीरता, सूर-तुलसी का रस और उदात्तता तथा नये कवियों—गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, हरिऔध आदि—की राष्ट्रीयता की त्रिवेणी थी। फलतः आचार्य द्विवेदी कालिदास-भवभूति को प्रश्रय तो देते ही हैं, गुप्त-त्रिपाठी से भी उदासीन नहीं हैं। इस समय साहित्य-समीक्षा में राष्ट्रीय तत्त्व तथा जीवन के आदर्श-तत्त्वों की प्रधानता है। आचार्य द्विवेदी उच्च आदर्श के व्यक्ति थे और परुष व्यक्तित्व की ही यह सामर्थ्य है कि उन्होंने रीतिकालीन समीक्षा-पद्धति को एक जबर्दस्त मोड़ दिया। फिर भी आचार्य द्विवेदी ने साहित्यशास्त्र का निर्माण बहुत नहीं किया। 'रसज्ञरंजन' में उन्होंने कविता के विभिन्न पक्षों—छन्द, भाषा, अर्थगौरव, विषय आदि—का विवेचन किया। इनकी समीक्षा-पद्धति में निर्देश बहुत अधिक हैं। ये कविता को 'मनोरंजक और उपदेशपरक'[२] मानते हैं। रीतिकालीन प्रवृत्ति से उन्हें चिढ़ थी।[३] नायिकाभेद के वे विरोधी थे।[४] ये कविता को अपूर्व रसायन मानते थे जिसकी रससिद्धि के लिए उनके अनुसार 'बड़ी सावधानी, बड़ी मनोयोगिता और बड़ी चतुराई' की आवश्यकता होती है।[५] स्पष्ट ही आचार्य की धारणाएँ आदर्शवादी थीं। वे 'रस' को ही काव्य का सर्वस्व समझते थे। उनकी रस-सम्बन्धी धारणा रीतिकालीन धारणा से बिल्कुल भिन्न है। आचार्य द्विवेदी लेखकों एवं कवियों के लिए एक 'कोड आफ कण्डक्ट' का भी निर्माण कर सके थे—'समालोचना का सत्कार' शीर्षक निबन्ध इसी बात का द्योतक है।

अब समीक्षा के विकास पर नया युग हावी हो रहा था। भारत की उभरती जनचेतना एवं पुनर्मूल्यांकन की लहर प्रबल हो रही थी। राष्ट्रीयता की भावना शक्ति-

---

१. नाटक, खड्गविलास प्रेस, चतुर्थ आवृत्ति, पृ० १३।
२. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४५३।
३. वही, पृ० ४५३।
४. वही, पृ० ४५६।
५. वही, पृ० ४५०।

अर्जन कर रही थी। साहित्य-समीक्षा पर भी इसका प्रभाव पड़ा। पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने नायिकाभेद का सर्वथा नवीन निर्वचन किया। उनकी नायिकाओं में देशसेविका, समाजसेविका आदि का समावेश उभरती हुई राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक है। हरिऔधजी ने अपने सिद्धान्तों का प्रयोग भी किया—'प्रियप्रवास' इसका साक्षी है।

मिश्रबन्धुओं ने रीतिकालीन साहित्यिक मानदंडों को नये साँचे में ढालने का प्रयास किया और इनकी साफ-सुथरी व्याख्याएँ भी सामने आयीं। ये पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों से भी परिचित थे किन्तु, इनके सामने यह स्पष्ट नहीं था कि उन पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों को भारतीय वातावरण में किस प्रकार ढाला जाय। परिणामत: उन सिद्धान्तों से वे कोई विशेष लाभ नहीं उठा पाये और मूलत: वे परम्परावादी ही रहे। 'नवरत्न' और 'मिश्रबन्धुविनोद' में उनकी शोधवृत्ति ही अधिक रमी, विश्लेषण का अभाव ही रहा। उनकी यह परम्परावादी दृष्टि नये युग की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं थी। ऐतिहासिक आलोचना के समर्थ प्रवर्त्तन का श्रेय उन्हें अवश्य है; यद्यपि इतिहास लिखने के लिए जिस परिप्रेक्ष्य-बोध की आवश्यकता होती है, वह उनमें नहीं था।

शुद्ध कलावादी और चमत्कारवादी प्रवृत्ति को लेकर पं० पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक समीक्षा की नींव डाली। इसके साथ-साथ शर्माजी ने व्यावहारिक आलोचना का भाष्य-पद्धति पर श्रीगणेश भी किया। इनके पूर्व एक-एक शब्द को लेकर ऊहापोह करने वाला आचार्य कोई दूसरा न हुआ। ये रीतिकालीन काव्य, उर्दू, फारसी के काव्य के रसिक थे। इन्होंने बिहारी के एक-एक दोहे को संस्कृत, फारसी, उर्दू की कविताओं के धरातल पर परखा, उसके एक-एक शब्द के प्रयोगौचित्य, चमत्कार और अर्थगौरव की समीक्षा की। काव्य में शब्द-प्रयोग पर इतना समृद्ध विवेचन अन्यत्र शायद ही मिले।

परन्तु, अबतक हिन्दी में आलोचना की समवाय-पद्धति की स्थापना नहीं हो सकी थी। आलोचना में मुख्यत: तीन प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं—संस्कृत काव्यशास्त्र की व्याख्या और अन्धानुकरण, रीतिकालीन चमत्कारवाद और उपचारवक्रता से प्रभावित विवेचन तथा नयी जन-चेतना से उत्पन्न आदर्शवादी विवेचन। पहले वर्ग के प्रतिनिधि आचार्य हैं सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, दूसरे के पद्मसिंह शर्मा और तीसरे के आचार्य द्विवेदी तथा हरिऔध। इन तीनों धाराओं में सन्तुलन-स्थापना की आवश्यकता थी।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस आवश्यकता को पूरा किया। हिन्दी-समीक्षा का पूर्ण परिपाक और प्रौढ़ता आचार्य शुक्ल में उपलब्ध है। आचार्य शुक्ल स्रष्टा भी थे और नियामक भी। ये रसवादी आचार्य थे। अपने पूर्ववर्ती आलोचकों की समस्त प्रवृत्तियों का समाहार कर इन्होंने काव्य-सिद्धान्त का व्यापक आधार निर्मित किया। आचार्य को संस्कृत-साहित्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र से पूर्ण परिचय

था। वे यह भी जानते थे कि उनका उपयोग नयी परिस्थितियों में किस रूप में किया जा सकता है।

संस्कृत-साहित्यशास्त्र का स्वतंत्र मूल्यांकन आचार्य शुक्ल ने किया। उनकी नयी व्याख्याएँ दीं। संस्कृत-साहित्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के मध्य समन्वयभूमि-अन्वेषण का श्रेय भी इन्हीं को प्राप्त है। समस्त मान्यताओं की प्रतिष्ठा मानवतावादी धरातल पर इन्होंने की।

आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(क) कविता जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति है।[१]

(ख) काव्य के विषयक्षेत्र तीन हैं—नरक्षेत्र, मनुष्येतर, बाह्य सृष्टि और समस्त चराचर।[२]

(ग) काव्य का प्रयोजन हृदयप्रसार है[३] और हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा है। अतः

(घ) रस ही काव्य का सब कुछ है।[४]

(ङ) काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं; वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं।[५]

(च) वाच्यार्थ काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।[६]

(छ) वे कलावाद अथवा अभिव्यंजनावाद के समर्थक नहीं थे। वे साहित्य को 'जीवन के लिए' मानते थे। वे भावानुभूति पर अधिक बल देते थे।[७]

(ज) मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्धकाव्य अधिक उपयोगी और जीवन-छवियों के चित्रण के लिए उपयुक्त है।[८]

(झ) काव्य में आनन्द की साधनावस्था का महत्त्व है, सिद्धावस्था का नहीं।[९] इत्यादि।

वे काव्य में जीवन के मंगलपक्ष के समर्थक थे। अपनी इन मान्यताओं के आधार पर संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्रों का उपयोग इन्होंने किया। चमत्कारवाद के ये समर्थक नहीं थे। साधारणीकरण-सम्बन्धी नयी स्थितियों की स्थापना कर इन्होंने व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का प्रतिपादन किया। इसीलिए तुलसीदास की व्याख्या में भी इन्होंने राम-चरित्र के उदात्त तत्त्वों की व्याख्या ही अधिक की।

१. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ११।
२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १९९।
३. वही, पृ० २१८।
४. ये रसवादी आचार्य थे और रस की सर्वोपरिता पर इन्होंने काफी विवेचन किया है।
५. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३०९।
६. काव्य में अभिव्यंजनावाद शीर्षक निबन्ध, चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६६।
७. वही, पृ० १७०।
८. भ्रमरगीतसार की भूमिका।
९. चिन्तामणि, भाग १ तथा रसमीमांसा पृ० ५७।

रस की व्याख्या को पहली बार इन्होंने मनोवैज्ञानिक आधार दिया। इसके लिए इन्होंने मानवीय वृत्तियों—क्रोध, लोभ, भय, जुगुप्सा आदि की मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ भी कीं।

स्पष्ट है कि शुक्लजी ने स्वतंत्र मूल्यांकन करने की चेष्टा की। इसके लिए पारिभाषिक शब्द एवं संकेत तो उन्होंने संस्कृत-साहित्यशास्त्र से ग्रहण किये, किन्तु नया अर्थगौरव देकर। वे युगचेतना से परिचित थे। इसीलिए रसानुभूति की अलौकिकता का उन्होंने खंडन किया और मानव-सुलभ भावभूमि पर उसकी प्रतिष्ठा की।[१] वे सभी रसों के अनुभव को भी आनन्दमय नहीं मानते।

फिर भी आचार्य शुक्ल पूर्णतः तटस्थ और निर्भ्रान्त आलोचक नहीं थे। उनके निजी दार्शनिक विचार, धारणाएँ तथा नीतिवादी मान्यताएँ उनके समीक्षा-सिद्धान्तों के निर्माण में अत्यधिक सक्रिय हैं। उनमें आसक्त लेखकत्व की वृत्ति काफी है। प्रबन्ध के प्रति उनका आग्रह उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है; वैसे ही तुलसी के प्रति भी दुराग्रह की सीमा तक वे आग्रही हैं। शुक्लजी लोक-धारा के प्रतिनिधि कवि कबीर का सम्यक् मूल्यांकन नहीं कर सके। जनचेतना को वे पूर्णतः नहीं पकड़ सके। "उनका समीक्षादर्श अतिशय व्यापक और सर्वसामान्य अवश्य था, परन्तु उसमें परिवर्त्तनशील वस्तुजगत् और उसमें उद्भासित होने वाले साहित्य-रूपों और प्रक्रियाओं को ग्रहण करने की वस्तुन्मुखी प्रवृत्ति नहीं थी।"[२] फलत: वे उपन्यास-कहानी आदि साहित्यविधाओं का सम्यक् विवेचन नहीं कर सके। वैसे इनकी थोड़ी-बहुत चर्चा उनके साहित्येतिहास में आयी है; पर वह भी सिद्धान्त-निरूपण नहीं है।

आचार्य शुक्ल ने ऐतिहासिक आलोचना का भी व्यवस्थित रूप उपस्थित किया। आचार्य शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' हिन्दी का प्रथम व्यवस्थित और प्रौढ़तम इतिहास-ग्रन्थ है। यद्यपि उनमें ऐतिहासिक दृष्टि का वैज्ञानिक रूप नहीं मिलता है, वे इतिहास का द्वन्द्वात्मक रूप नहीं पहचान सके थे; फिर भी इतिहास-लेखन का जो ढाँचा उन्होंने प्रस्तुत किया वह अबतक अटूट है।

समासत: आचार्य शुक्ल हिन्दी के सर्वमान्य-सर्वश्रेष्ठ आलोचक थे। उनकी विश्लेषण-शक्ति, ग्राहिका प्रतिभा तथा सर्वग्राही पाण्डित्य अद्वितीय था।

आचार्य शुक्ल साहित्य की अन्य विधाओं का विश्लेषण नहीं कर पाये थे। इस कार्य को आचार्य श्यामसुन्दर दास ने पूरा किया। 'साहित्यालोचन' में इन्होंने संस्कृत-साहित्यशास्त्र तथा हडसन के 'An introduction to the study of Literature' के समन्वय के आधार पर एक समग्र साहित्यशास्त्र का निर्माण किया। इनके बाद बाबू गुलाबराय ने 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन'

१. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ८२।

२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आलोचना, इतिहास विशेषांक, पृ० १७७।

में आलोचना के इस रूप का विस्तार दिया। डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' लिखकर सैद्धांतिक आलोचना को सर्वथा नवीन दिशा का संकेत दिया है।

यहाँ से समीक्षा-सिद्धान्तों की विधियों का विस्तार होता है। जैसे-जैसे चिन्ताधारा का विकास होने लगा, साहित्य का रूप और उत्तरदायित्व भी विकसित होने लगा। अबतक समीक्षा-शास्त्र हिन्दी-साहित्य के बहुविध विस्तार को अन्तर्मुक्त नहीं कर पाया था। समीक्षा के प्रतिमान प्राय: द्विवेदी-युग की हिन्दी-काव्यधारा पर ही आधारित थे। छायावाद के आविर्भाव के साथ ही साहित्य-समस्याओं का रूप ही बदल गया। शुक्लजी इसका स्वागत नहीं कर सके। फलत: नये साहित्य को नये समीक्षकों तथा नये प्रतिमान की आवश्यकता पड़ी। फलत: समीक्षा की कई धाराएँ सामने आयीं। उनमें प्रमुख ये हैं—

१. स्वच्छन्दतावादी आलोचना,
२. प्रगतिवादी आलोचना,
३. मानवतावादी आलोचना,
४. मनोविश्लेषणवादी आलोचना,
५. प्रयोगवादी आलोचना और
६. शोध—मौलिक और विश्लेपण।

छायावादी अपने लिए नये काव्य-प्रतिमान की स्थापना करते हैं। इस क्षेत्र में पंत अग्रणी हैं। 'पल्लव' की भूमिका में पंत ने छायावादी काव्यशास्त्र का स्पष्ट निर्देश किया, शिल्प और विषय पर अभिनव स्थापनाएँ दीं। पन शब्द-प्रयोग, पर्यायवाची शब्दों की पृथक्-पृथक् अर्थ-धर्मिता, छन्द, भाषा-राग, चित्त-राग, प्रतीक आदि पर व्याख्याएँ दीं। वस्तुत: छायावाद के कलापक्ष पर जितनी गम्भीर विवेचना पंत ने दी, उतनी मार्मिक विवेचना कोई नहीं दे पाया। इसके लिए इन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र का सहारा तो लिया ही, साथ ही अँगरेजी समीक्षा-सिद्धान्तों का भी आधान किया। निराला ने भी मुक्तछन्द के लिए 'कवित्त' को स्वीकार कर छन्द की नयी व्याख्या दी।

छायावाद को दो और सहानुभूतिशील एवं सशक्त आलोचक मिले—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र के रूप में। इन दोनों आचार्यों ने छायावाद को गहरी सहानुभूति दी तथा उसके समाजशास्त्रीय कारणों का निर्देश किया। इनकी व्याख्याओं ने छायावाद-सम्बन्धी बहुत सारी भ्रान्तियों को दूर कर दिया। इन दो आलोचकों का धरातल और भी व्यापक है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे।

दूसरे महायुद्ध के मध्यकाल में ही छायावाद का रोमानी प्रभाव समाप्त होने लगा था। कथा-साहित्य में तो यह प्रभाव कब का समाप्त हो चुका था, कविता में भी समाप्त हो चला था। महायुद्धों के परिणामस्वरूप तथा पूँजीवादी अर्थ-पद्धति से पिसता हुआ जन जीवन अभिव्यक्ति का अधिक यथार्थ माध्यम ढूंढ़ने लगा

प्रेमचंद की जन-चेतना गद्यक्षेत्र में आ चुकी थी। कथा-साहित्य ने जीवन की कटुता की चुनौती स्वीकार कर ली थी। कविताओं में भी प्रगतिवादी प्रवृत्ति उभरने लगती है। टूटते हुए जीवन-मानों एवं विघटित भारतीय जीवन-पद्धति को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य पूर्वप्रचलित समीक्षा-प्रतिमानों की कसौटी पर नहीं परखा जा सकता था। जैनेन्द्र-अज्ञेय के कथा-साहित्य, बच्चन-महादेवी की कविता तथा अन्तर्मुखी विचारधारा की प्रतिक्रिया हुई। यह एक स्वस्थ प्रतिक्रिया थी और तदनुकूल इसका स्वागत भी हुआ। शिवदानसिंह चौहान की समीक्षाओं से प्रगतिवादी समीक्षा का प्रारम्भ होता है। चौहान तीव्र वस्तून्मुखी चेतना लेकर आये। इसका विकास किया डॉ० रामविलास शर्मा और प्रकाशचन्द्र गुप्त ने। संक्षेप में, प्रगतिवादी आलोचना का मानदंड था—साहित्य जीवन के लिए तथा सत्य के उद्घाटन के लिए हो। डॉ० रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद के उपन्यासों की व्याख्या समाजशास्त्रीय धरातल पर की। उनकी कृति 'प्रेमचंद और उनका युग' अन्यतम रचना है।

प्रारम्भ में प्रगतिवादी आलोचना में मार्क्सीय साध्यों का दुराग्रह नहीं आया था। परन्तु बाद में आलोचक मार्क्सवादी साध्यों की परीक्षा करने लगे। फलतः साहित्य के मूल्यांकन के बदले उसका वर्गीकरण होने लगा। अमृत राय ने तो 'फतवा-वादी' आलोचना की नींव डाल दी। मार्क्स ने जीवन को उसकी व्यापकता में और इतिहास तथा उसकी विरासत को वैज्ञानिक दृष्टि से देखा था। हिन्दी में उनका प्रभाव आया अवश्य, किन्तु अब तक उसपर आधारित किसी साहित्यशास्त्र का निर्माण नहीं हुआ। फलतः प्रतिमान अनिश्चित हैं।

आचार्य शुक्ल ने समीक्षा की दो धाराएँ कायम की थीं— शास्त्रीय और मानवतावादी। शास्त्रीय धारा को विकसित करने का पूर्ण श्रेय आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को है। आचार्य मिश्र ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र के आधार पर रीतिमुक्त काव्य की स्वच्छ, प्रौढ़ एवं पाण्डित्यपूर्ण विवेचना की। डॉ० नगेन्द्र भी इसी प्रकार प्रयत्नशील रहे। डॉ० नगेन्द्र को साहित्यशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष के निर्माण, व्याख्या एवं संग्रह में सफलता मिली। इन्होंने संस्कृत-साहित्यशास्त्र तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की समन्वयभूमि का अन्वेषण किया है। शुक्लजी ने भी यह कार्य किया था किन्तु वहाँ भी उनकी अपनी रुचि प्रधान थी। डॉ० नगेन्द्र ने दोनों सिद्धान्तों की तुलनात्मक व्याख्याएँ उपस्थित की हैं—ध्वन्यालोक की भूमिका, अरस्तू के काव्यशास्त्र की भूमिका आदि इसके प्रमाण हैं। अतः शुक्लजी द्वारा स्थापित शास्त्रीय धारा के दो प्रतिनिधि हैं—आचार्य मिश्र और डॉ० नगेन्द्र। एक विनियोग में आस्था रखते हैं, तो दूसरे सिद्धान्तविवेचन में।

शुक्लजी द्वारा दूसरी प्रवृत्ति की वस्तून्मुखी व्याख्या प्रस्तुत की गयी। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, जानकीवल्लभ शास्त्री आदि इसी कोटि के आलोचक हैं। आचार्य वाजपेयी अधिक सहानुभूतिशील तथा व्यापक हैं।

इन्होंने रस-सूत्रों की नयी व्याख्या भी प्रस्तुत की। आचार्य वाजपेयी शास्त्रीय होते हुए भी अधिक उदार और वस्तून्मुखी है। आचार्य द्विवेदी ने सांस्कृतिक समीक्षा का प्रवर्त्तन किया। यह शुक्लजी द्वारा प्रवर्त्तित ऐतिहासिक दृष्टिकोण का विकसित रूप था। 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल', 'अशोक के फूल' आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं।

फ्रायड की साहित्य-सम्बन्धी व्याख्याओं तथा मनोविश्लेषणप्रधान कथा-साहित्य से प्रभावित होकर हिन्दी-आलोचना की एक नयी धारा सामने आयी—मनोविश्लेषण-वादी आलोचना। फ्रायड ने साहित्य को दिवास्वप्न का पर्याय माना था तथा साहित्य में अभिव्यक्त भावों को उदात्तीकरण का परिणाम स्वीकार किया था। फ्रायड के सिद्धान्तों को मानकर कथा-साहित्य की रचना खूब हुई और हो रही है। इसकी व्याख्या करने वालों में आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि प्रधान हैं। इस धारा के अन्तर्गत साहित्य की व्याख्या मनोविश्लेषण-सूत्रों के माध्यम से की जाती है। दमित वासनाओं की प्रक्रियाओं तथा कारणों की व्याख्या करना मनोविश्लेषणवादियों का उद्देश्य है। आचार्य शर्मा पूर्णतया इस वर्ग में ही सीमित नहीं रह जाते। उनका विचार-फलक सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और समाज-शास्त्रीय प्रतिमानों से व्यापक हो रहा था। किन्तु वे अपनी स्थापनाओं को पूर्णतः विकसित नहीं कर पाये।

बाद में काव्यक्षेत्र में प्रपद्यवाद प्रयोगवाद, और 'नयी कविता' के रूप में नये आन्दोलन आये हैं। वर्तमान पीढ़ी के समालोचकों द्वारा इनका सम्यक् स्वागत नहीं हुआ। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, नलिनविलोचन शर्मा आदि के अतिरिक्त इन्हें अन्यत्र व्यापक सहानुभूति नहीं मिली। फलतः इस वर्ग ने निजी समीक्षक उत्पन्न किये। प्रपद्यवाद ने तो अपने प्रवर्त्तन-काल के प्रारम्भ में ही प्रयोग-दशसूत्री का निर्माण कर लिया था, जिनके निर्माताओं में आचार्य नलिन-विलोचन शर्मा भी एक थे। बाद भी प्रो० केसरी कुमार ने उस "प्रयोग-दशसूत्री" में दो और सूत्रों की वृद्धि की।[1] शेष दोनों काव्य-धाराओं के लिए श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नयी कविता के प्रतिमान' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें श्री वर्मा ने नयी कविता को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ, उनकी असंगतियाँ, नयी कविता की भावभूमि, शिल्प, प्रतीक एवं कवियों के व्यक्तित्व का प्रौढ विवेचन किया। अज्ञेय ने भी 'तार सप्तक' की भूमिकाओं में नयी कविता के मानदंडों की व्याख्या की। अन्य कवियों ने भी अपनी कविता की व्याख्या का बीड़ा स्वयं उठाया। फिर भी अभी इसके प्रतिमान निर्मित होने शेष हैं। इस प्रयोगवादी धारा से काव्य-सम्बन्धी नये मानदंड की स्थापना तो हुई ही साथ ही एक लाभ यह भी हुआ कि इसके माध्यम से अँगरेजी समीक्षाशास्त्र की नवीनतम गतिविधियों से हमारा परिचय होता गया। परन्तु इन समीक्षाओं में एक बात खटकती है, वह यह कि इनमें बार-बार अँगरेजी समीक्षकों,

---

[1] अवंतिका : काव्यालोचनांक, पृ० २५२।

विशेषकर टी० एस० इलियट, एजरा पाउण्ड आदि की दुहाई दी जाती है। अधुनातन प्रयोगवादी समीक्षक भारतीय जमीन छोड़कर स्थापनाएँ देते हैं। इसका कारण सम्भवत: यह भी है कि इन्हें भारतीय साहित्यशास्त्र का ज्ञान भी उतना नहीं है। फलत: इस समीक्षापद्धति के कोई निश्चित परिणाम भी नहीं निकल रहे हैं।

इन सबसे पृथक्, शोधग्रन्थों के रूप में तटस्थ मूल्यांकन की धारा भी चली है। शोध मूलत: चार-पाँच क्षेत्रों में हुआ है—साहित्येतिहास, भाषा, काव्यशास्त्र, साहित्य-विधाएं एवं वर्ग तथा व्यक्ति। साहित्येतिहास के क्षेत्र में डॉ० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', डॉ० धर्मवीर भारती का 'गुजराती और हिन्दी कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन' आदि प्रमुख हैं। इनमें शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य-विकास का अध्ययन किया गया है।

भाषाशास्त्रीय शोध के अन्तर्गत डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का 'ब्रज की ध्वनियों का अध्ययन', डॉ० विश्वनाथ प्रसाद का 'भोजपुरी ध्वनियों का अध्ययन', डॉ० उदय नारायण तिवारी का 'भोजपुरी भाषा और साहित्य', डॉ० नामवर सिंह का 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का प्रभाव' आदि उल्लेखनीय हैं। इधर हिन्दी में भाषा-शास्त्रीय अध्ययन का काफी विस्तार हुआ है। प्रतिनिधि कवियों के भाषाशास्त्रीय अध्ययन की ओर भी प्रवृत्ति हुई है— डॉ० प्रेमनारायण टंडन का 'सूर की भाषा' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आगरा के हिन्दी-विद्यापीठ और पूना के भाषा-संस्थान में भाषासम्बन्धी अध्ययन की प्रगति हो रही है। परिणामस्वरूप हिन्दी तथा उसकी बोलियों के अध्ययन को काफी प्रोत्साहन मिला है।

काव्यशास्त्रीय शोध के अन्तर्गत डॉ० 'रसाल' का अलंकारों पर खोज, डॉ० राकेश का नायिकाभेद और रस पर शोध, डॉ० भोलानाथ तिवारी का ध्वनि पर अध्ययन, डॉ० ओम्प्रकाश का अलंकारों पर शोध, डॉ० भगीरथ मिश्र का हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास पर शोध आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इन अनुसन्धानपरक व्याख्याओं से हिन्दी के निजी काव्यशास्त्र के लिए उर्वर भूमि निर्मित हुई है तथा काव्यशास्त्र के अध्ययन-मनन को काफी बल मिला है। संस्कृत-काव्यशास्त्र अब हिन्दी के पाठकों के लिए पूर्णतया स्पष्ट हो चला है। यह बात कम उपयोगी नहीं है।

साहित्यविधाओं एवं वर्गों के शोध के अन्तर्गत डॉ० दीनदयालु गुप्त का 'अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय', डॉ० दशरथ ओझा का 'हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास', डॉ० देवराज उपाध्याय का 'हिन्दी-कथा-साहित्य में मनोविज्ञान', डॉ० रामचरण महेन्द्र का 'हिन्दी-एकांकी : उद्भव और विकास' आदि उल्लेख्य हैं। इनसे तटस्थ अध्ययन तथा मूल्यांकन को बल मिला है।

प्रतिनिधि व्यक्तियों पर किये गये शोध के अन्तर्गत डॉ० माता प्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास', डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का 'सूरदास', डॉ० हीरालाल दीक्षित का 'केशवदास', डॉ० सत्यदेव चौधरी का 'हिन्दी-रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य' तथा बिहारी,

मैथिलीशरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा, प्रेमचंद आदि पर किये गये अध्ययन उल्लेख्य हैं। इन अध्ययनों का एक वैशिष्ट्य ध्यातव्य है कि इनमें परम्परा, युग और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास है।

इनके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण कृतियों पर भी शोधपूर्ण अध्ययन किये गये है। उदाहरणार्थ डॉ० द्वारिका प्रसाद का 'कामायनी' पर किया गया अध्ययन।

हिन्दी मे fundamental research तथा पाठ-शोध का अभाव-सा है। पहले वर्ग में इने-गिने व्यक्ति आते हैं—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री (संत कवि दरिया), डॉ० विजयेन्द्र स्नातक आदि। इस क्षेत्र में विश्वविद्यालयों से बाहर कार्य हुए हैं। उन शोधकर्त्ताओं में प्रभुदयाल मीतल प्रमुख है। वैसे ही, पाठ-शोध का भी बहुत कुछ अभाव ही है। शोधप्रबन्ध वृत्ति से अलग रहकर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'घनानन्द' पर तथा डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने 'पद्मावत' और 'मृगावती' पर काम किया है। इस क्षेत्र में अभी विकास की अपेक्षा है।

कुल मिलाकर हिन्दी-आलोचना का अद्यावधि इतिहास इतना ही है। आलोचना में व्यावसायिका वृत्ति आ जाने के कारण आलोचना के नाम पर 'कुंजियाँ' और 'एक अध्ययन' सिरीज़् निकल रही है। यह शुभ लक्षण नहीं है। वस्तुत: नयी पीढी मे गम्भीर अध्ययन की प्रवृत्ति, ऐसा लगता है, है ही नहीं। गद्य-विधाओ के अध्ययन और सिद्धान्त-विश्लेषण का प्रयास भी बहुत कम हुआ है। 'कहानी' पर डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा और डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के ग्रन्थ अवश्य प्रकाशित हुए हैं। उनमें भी कहानी के शिल्प का व्यवस्थित विश्लेषण डॉ० शर्मा ही कर सके हैं। किन्तु, इतना ही पर्याप्त नही कहा जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्य की प्रत्येक विधा का, विशेषत: गद्य-विधाओं का शास्त्र-निर्माण किया जाए।

रचनात्मक साहित्य जिस गति से प्रगति कर रहा है, आलोचना उसका साथ नहीं दे पा रही है। इसमें एक प्रकार का गत्यवरोध आ गया है। आलोचना-क्षेत्र में अभी तीन कार्य शेष है— (क) हिन्दी का निजी काव्यशास्त्र, (ख) हिन्दी का वृहत् एवं प्रामाणिक साहित्येतिहास और (ग) गद्य-विधाओं का शिल्पगत अध्ययन। पहले के लिए प्रभूत सामग्री प्रस्तुत हो गयी है— संस्कृत-साहित्यशास्त्र और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र दोनों हमारे सामने हैं। साथ ही हिन्दी की निजी उपलब्धियाँ भी सामने आ चुकी हैं। आवश्यकता समाहार करने की है। दूसरे क्षेत्र में कार्य तो हो रहा है किन्तु उसमें व्यवस्था का अभाव है। सभा से अभी जो खड प्रकाशित हुए हैं उसके लेखक उन इतिहासग्रन्थों में अपने पूर्वलिखित निबन्धो को ही प्राय: पुन: प्रस्तुत कर रहे हैं। मेरा यह आरोप विशेषकर रीतिकाल वाले खड पर है। इसमें अधिक व्यवस्था और संगठन की आवश्यकता है। तीसरा क्षेत्र तो प्राय: अछूता ही है। इस ओर कार्य करने की काफी गुंजाइश है।

शेष प्रश्न

अबतक हमने हिन्दी-गद्य के शैली तथा विधा-वैविध्य का सविस्तर विवेचन किया है। उक्त विवेचन में प्रमुख गद्य-विधाओं का समावेश हो गया है।

किन्तु मनुष्य की मनीषा निरन्तर प्रयोगशील रहती आयी है। हर क्षेत्र में मनीषा प्रश्न उठाती है— 'और फिर ?' जीवन का यह प्रश्न-सातत्य हमेशा उत्तर ढूँढ़ता है और ये उत्तर ही उपलब्धियाँ कहलाते हैं।

साहित्य प्रश्न, प्रयोग और उत्तर के लिए सर्वाधिक उर्वर क्षेत्र है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य-विधाओं की दिशाएँ निश्चित हो गयी। वस्तुत: विधाएँ निश्चित कभी नहीं होतीं—अध्ययन-सौकर्य की दृष्टि से हम उन्हें विशिष्ट वर्गों में रख भर लेते हैं। हिन्दी का एकांकी-साहित्य हमारी उपर्युक्त अवधारणा की पुष्टि करता है। एकांकी अपनी शिल्प-परिनिष्ठा और उपचार की दृष्टि से आधुनिक उपलब्धि है। वैसे, परम्परा के लिए हिन्दी-एकांकी का रक्तसम्बन्ध संस्कृत के भाण, व्यायोग, अंक, वीथि और प्रहसन, इन पाँच रूपकभेदों से जोड़ा जा सकता है; किन्तु आधुनिक अर्थवत्ता में हिन्दी-एकांकी उनसे वैसे ही भिन्न है जैसे, आज का मानव अपने आदिरूपों से भिन्न है। भारतेन्दु की एकांकी कही जाने वाली रचनाएँ 'विषस्य विषमौषधम्' भाण रूपक, 'धनंजयविजय' व्यायोग और 'अँधेर नगरी' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन मानी जा सकती हैं।

इसी प्रकार भारतेन्दु के पश्चात् श्रीनिवासदास, प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने एकांकी लिखे। इनके विषय सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं से सम्बद्ध हैं, इसीलिए इन्हें आधुनिक माना जा सकता है। किन्तु शिल्प की दृष्टि से इस प्रारम्भिक दौर के एकांकी आधुनिक परिनिष्ठा प्राप्त नहीं कर पाये थे। अत: भारतेन्दुकालीन एकांकी को हिन्दी-एकांकी-साहित्य का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है।

एकांकी एक स्वतंत्र विधा के रूप में भारतेन्दुकाल में स्थापित नहीं हो पाया। उनपर संस्कृत-नाट्यशास्त्र तथा बँगला नाटकों के माध्यम से किंचित् पाश्चात्य प्रभाव ही अधिक है।

हिन्दी के आधुनिक एकांकी-साहित्य के शिल्प का जो विकास हो रहा है वह मूलत: पाश्चात्य नाटकों के शिल्प से प्रभावित है। बीसवीं शती के दूसरे-तीसरे दशक के मध्य शॉ और इब्सन की समस्यामूलक नाट्य-प्रतिपत्तियाँ हिन्दी के नाटककारों को प्रभावित करने लगी थीं। सामाजिक समस्याओं के प्रति

उत्कट आग्रह तथा बौद्धिकता एवं शिल्प के प्रति आयासजन्य सजगता इनकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। हिन्दी की प्राय: प्रत्येक साहित्य-विधा पर पाश्चात्य विधा-शिल्प का प्रभाव पड़ा है। एकांकी-साहित्य इससे निरपेक्ष नहीं रह पाया तो इसमें आश्चर्य क्या ? फलत: हिन्दी एकांकीकारों की विषयवस्तु तो समसामयिक वातावरण की ही रही, परन्तु पद्धति पाश्चात्य से प्रभावित रही। विषय और पद्धति का यह संयोग, ज्ञान की असंगति नहीं बल्कि स्रोत का वैविध्य ही कहा जायगा, जो स्वाभाविक है। हमारी जीवन-पद्धति जिस रूप में ढली है और ढल रही है, शिल्प-स्रोत का चुनाव उसके अनुकूल ही है। यंत्र-युग में बोझिल शिल्प की अपेक्षा अधिक त्वरित और स्वाभाविक शिल्प ही अपेक्षित है। अत: प्रभाव-ग्रहण का यह रूप ग्रहण और विनियोग दोनों दृष्टियों से उचित है।

भारतेन्दु के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' से लेकर 'प्रसाद के 'एक घूँट' तक के प्रयोग हिन्दी-एकांकी-साहित्य का उपोद्घात माना जाना चाहिए। 'एक घूँट' आधुनिक अर्थो में पूर्णतया आधुनिक एकांकी है, जिसमें शिल्प का अधुनातन रूप मिलता है। अत: 'एक घूँट' से ही एकांकी को हिन्दी की, नाटक से अलग, एक मौलिक विधा के रूप में स्वीकृति मिली।

प्रसादजी के बाद सुदर्शन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पं० गोविन्दवल्लभ पत आदि ने एकांकी लिखे, किन्तु शिल्प और शैली की परिनिष्ठा के अभाव मे इन्हें सफलता नही मिली। इनके बाद ही तीन महत्त्वपूर्ण एवं सशक्त हस्ताक्षर एकांकी-साहित्य को प्राप्त हुए—भुवनेश्वरप्रसाद, डॉ० रामकुमार वर्मा और उपेन्द्र नाथ 'अश्क'।

भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ। इसमें छह एकांकी हैं। विषय की दृष्टि से ये एकांकी समस्याप्रधान हैं, जिनमें वर्त्तमान दोरुखी ज़िन्दगी की बखिया उधेड़ी गयी है। 'स्ट्राइक' इनका प्रतिनिधि एकांकी है। इसमें उच्च मध्यवित्त वर्ग की बौद्धिकता तथा आचार का खोखलापन दिखलाया गया है। यांत्रिकता की असंगति—मनुष्य में मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा की अपेक्षा घड़ी की सूइयों का आग्रह—उभर कर आयी है। समासत: 'कारवाँ' के एकांकियों का प्रतिपाद्य रूढ नैतिक मान्यताओं तथा सामाजिक श्रृंखलाओं पर व्यंग्य है। विषय और शिल्प दोनों दृष्टियों से इनके एकांकी पाश्चात्य पद्धति विशेषत: शॉ और इब्सन की समस्या-मूलक प्रवृत्ति पर आधारित हैं। निर्मम व्यंग्य, परिस्थितिजन्य यथार्थ का उद्घाटन तथा भावना की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता इनके एकांकियों की विशेषता है। वस्तुत: जो कार्य नाटक के क्षेत्र में पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने किया है, श्री प्रसाद प्राय: वही कार्य एकांकी-क्षेत्र में करते दीखते हैं। डॉ० बच्चन सिंह ने इनके एकांकियों पर आक्षेप करते हुए लिखा है कि "समाज के रूढ़ वैवाहिक विश्वासों का उच्छेदन 'कारवाँ' का प्रतिपाद्य है। भारतीय नैतिक मूल्यों की उपयोगिता पर विचार न करके विदेशी मूल्यों के चलन का आग्रह बौद्धिक दासता या शुद्ध प्रतिक्रिया का द्योतक

है।"[1] किन्तु किसी भी नैतिक मान्यता, वह चाहे देशी हो या विदेशी, से आमरण चिपटे रहने की प्रतिज्ञा किसी भी सभ्यता के लिए उचित नहीं है। यह प्रवृत्ति ही प्रतिक्रियात्मक है। श्री प्रसाद ने इसी प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया है। 'म्यूज़िक' का 'पहला व्यक्ति' अपनी घड़ी की सूइयों को देखने में व्यस्त है, विवाह को एक वैसी आवश्यकता मात्र मानता है, जैसे किसी मशीन में एक पुर्जे की आवश्यकता होती है और जिसे खराब हो जाने पर परिवर्तित भी किया जा सकता है। और, दूसरी ओर उसकी पत्नी अपनी भावनात्मक तुष्टि के अभाव में दूसरों के साथ रात गुजारती है। उच्च मध्यवर्ग की यह स्थिति विदेशी नैतिकता (?) की ही देन है और लेखक का व्यंग्यप्रहार इसी पर है। स्पष्ट है कि इसमें भारतीय नैतिक मूल्यों की अवहेलना नहीं है। शिल्प की दृष्टि से श्री प्रसाद अकेले हैं। स्थापत्य में विस्तार की अपेक्षा सांकेतिकता, विवरण की अपेक्षा प्रभाव-प्रेषण तथा तीव्र घटना-संक्रमण इनकी विशेषताएँ हैं।

डॉ० रामकुमार वर्मा एकांकी के जन्मदाताओं में से एक हैं। इनका प्रथम संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' सन् १९३५ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके बाद रेशमी टाई, चारुमित्रा, सप्तकिरण, विभूति, चार ऐतिहासिक एकांकी आदि एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए। डॉ० वर्मा भारतीय संस्कृति में आस्था रखने वाले व्यक्ति हैं। त्याग, ममता और करुणा इनके एकांकियों में प्रायशः प्रतिपाद्य रहे है। इनका विषय-क्षेत्र इतिहास और समाज दोनों है। 'चारुमित्रा' इनका प्रतिनिधि एकांकी-संग्रह है, जिसमें मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम और करुणा है। 'सप्तकिरण' में डा० वर्मा ने हास्य के विविध भेदों के आधार पर नाटक लिख कर अभिनव प्रयोग किये हैं। डॉ० वर्मा के एकांकियों का सर्वाधिक सबल पक्ष है उनका चरित्र-निरूपण। चरित्र-चित्रण में ये मनोवैज्ञानिक संघर्षों के साथ-साथ परिस्थिति-निर्माण पर भी काफी बल देते हैं। परिणामतः इनके चरित्र मनोवैज्ञानिक विश्वसनीयता पूर्णतया अर्जित कर पाते हैं। डॉ० वर्मा के सारे एकांकी प्रायः विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के आग्रह पर ही लिखे गये हैं, जिनका उद्देश्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों में अभिनीत किया जाना होता है। फलतः अभिनेयता की दृष्टि से सभी एकांकी पूर्णतया सफल है। इनके एकांकियों में क्लिष्ट संकल्प नहीं बल्कि सर्वमान्य रसमयता की प्रधानता है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने अपने उपन्यासों और कहानियों में मध्यवर्गीय यथार्थ वातावरण के चित्रण में सिद्धि प्राप्त कर ली है। उनके एकांकी उपर्युक्त लक्षण से समन्वित तो हैं ही साथ ही उनमें हास्य और व्यंग्य की मात्रा भी काफी है। वस्तुतः अश्कजी अपने उपन्यासों और कहानियों में प्रभावशाली हास्य नहीं दे पाये थे। उसकी क्षतिपूर्त्ति वे अपने एकांकियों में कर लेते हैं। वे हास्य और व्यंग्य के सिद्धहस्त लेखक हैं। उनके एकांकियों का पहला संग्रह सन् १९३९ ई० में 'देवताओं की

१. 'आलोचना' के इतिहास-विशेषांक में 'हिन्दी नाटकों का विकास' शीर्षक निबन्ध, पृ० १५६।

छाया में' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसके बाद 'चरवाहे', 'तूफान से पहले', 'कैद और उड़ान', 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' आदि एकांकीसंग्रह प्रकाशित हुए। इधर हाल में पॉकेट बुक्स के अन्तर्गत उनके हास्य-एकांकियों का एक संग्रह 'बे बात की बात' प्रकाशित हुआ है। यह भी हास्य-व्यंग्य-प्रधान है। अश्कजी का विषय-क्षेत्र समाज और राजनीति है। ये इन क्षेत्रों से वैषम्य का चयन करते हैं और फिर उनपर तीखे प्रहार करते हैं। इनके पात्र हमारे परिचित होते हैं। पारिवारिक समस्याएँ उभरती हैं, उनके पात्रों के साथ बैठ कर, उनके विश्लेषण के साथ-साथ जैसे हम अपना ही विश्लेषण करते अथवा अपनी ही समस्याओं को सुलझाते होते हैं। शिल्प के प्रति आग्रह की अपेक्षा सहजता ही इनकी विशेषता है। उदाहरणार्थ, 'बेबात की बात' में बात कुछ भी नहीं सिर्फ इतनी है कि पति पत्नी से शुद्ध हिन्दी बोलने का आग्रह करता है कि 'मैं शर्म से पानी-पानी हो गयी' के बदले वह 'मैं लज्जा मे जल-जल हो गयी' बोले। बात की शुरुआत घर के नौकर-नौकरानी करती है और इसकी संक्रामकता बूढ़े पंडितजी और उनके प्रोफेसर पुत्र तक को प्रभावित करती है। प्रोफेसर साहब की पत्नी बिगड़ कर मायके जाने लगती है पर अन्त मे बात बन जाती है। बात कुछ भी नहीं पर, बेबात की बात बहुत बढ़ जाती है। दर्शक अथवा पाठक सिर्फ हँसता ही नहीं, समस्या पर सोच कर चौंक भी उठता है कि पारिवारिक जीवन मे बेबात की बात कितना गहरा रंग ले आ सकती है।

इनके अतिरिक्त उदयशंकर भट्ट के 'अभिनव एकांकी नाटक', 'आदिम युग', 'समस्या का अन्त', 'स्त्री का हृदय' आदि, लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'अशोकवन', जगदीशचन्द्र माथुर का 'भोर का तारा', विष्णु प्रभाकर का 'इन्सान' आदि उल्लेखनीय एकांकीसंग्रह हैं। इनमें भट्टजी सामाजिक असंगति का विषादान्त चित्रण, मिश्रजी स्वाभाविक शैली तथा समस्या निरूपण, माथुरजी मानवीय भावना के सहज चित्रण तथा आदर्श-यथार्थ के सम्मिलन और प्रभाकरजी वर्त्तमान समाजव्यवस्था के ह्रास और आडम्बर के चित्रण के लिए स्मरणीय हैं।

इधर आकाशवाणी की आवश्यकताओं के लिए रेडियो-एकांकी धड़ल्ले से लिखे गये, किन्तु इसे प्रकाशन के अभाव में तथा उच्च प्रतिमानित प्रतिभा के अभाव मे विधागत स्थायित्व अभी तक नहीं मिल सका है। रंगमंचीय एकांकी और रेडियो-एकांकी में मौलिक अन्तर यही है कि जहाँ रंगमंचीय एकांकी में आंगिक, वाचिक और आहार्य तीनों अभिनय-प्रकार वर्त्तमान होते हैं, वहाँ रेडियो-एकांकी में सिर्फ वाचिक अभिनय का ही महत्त्व है। रेडियो-एकांकी में ध्वनि-संयोजन और वाचन से ही वे सारे कार्य लिये जाते हैं जो रंगमंचीय एकांकी में रंगसज्जा, वेशभूषा आदि के माध्यम से किये जा पाते हैं।

रेडियो-एकांकीकारों में डॉ० वर्मा, श्री अश्क, विष्णु प्रभाकर, श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र प्रधान हैं। रेडियो-एकांकी में किसी स्वतंत्र प्रवृत्ति का स्थिरीकरण नही मिलता, बल्कि सचाई तो यह है कि आकाशवाणी की नीति में सरकारी हस्तक्षेप के

कारण रेडियो-एकांकी में यथार्थ-चित्रण नहीं आ सकता। परिणामतः रेडियो-एकांकी या तो थोथी आदर्शवादिता की पुष्टि करें या फिर सरकारी नीति की अथवा बहुत हुआ तो हास्य का सृजन करें। वस्तुतः आकाशवाणी की अनाहितिक नीति के कारण रेडियो-एकांकी का समुचित विकास नहीं हो पाया है।

रेडियो-एकांकी के क्षेत्र में दो महत्त्वपूर्ण प्रयोग हुए हैं—भाषा और चरित्र की दृष्टि से श्री रामेश्वर सिंह काश्यप का धारावाहिक रेडियो-रूपक 'लोहासिंह' और श्री सुरेन्द्रकुमार उपाध्याय के अपराधविषयक एकांकी। श्री काश्यप का 'लोहासिंह' एकांकी की अपेक्षा नाटक के अधिक निकट है। लोहासिंह का चरित्र वस्तुतः मनोविज्ञान की दृष्टि से अत्यधिक कम्पलेक्स है। लेकिन उसकी कम्प्लेक्सिटी में सामान्य की प्रतिष्ठा कर सकना काश्यपजी की विशेषता है। भाषा की दृष्टि से तो वह अद्वितीय है। भोजपुरी-अँगरेजी और खड़ीबोली के मिश्रित ग्राम्य प्रयोगों के कारण 'लोहासिंह' को अत्यधिक प्रसिद्धि मिली है। 'लोहासिंह का नया मोर्चा' के राष्ट्रवादी तत्त्व ने तो पेकिंग रेडियो के भी कान खड़े कर दिये हैं। वस्तुतः लोहासिंह जैसा चरित्र, जो भारतीय राजनीति के अर्द्धशतक को आत्मसात् कर चुका है, दूसरा नहीं है।

श्री उपाध्याय ने अभिनव प्रयोग किये हैं। उनके अपराधविषयक रेडियो-एकांकी शिल्प की दृष्टि से भी रहस्य और रोमांच की सृष्टि कर सकने के कारण सफल हैं। 'अन्तिम प्रहर' उनका प्रतिनिधि एकांकी है। 'बबूल की छाँह' प्रतीकात्मक अपराधविषयक रेडियो-एकांकी है। इन एकांकियों में सूक्ष्म मनोविश्लेषण के साथ-साथ अपराधसम्बन्धी वातावरणनिर्माण की अद्भुत क्षमता द्रष्टव्य है। इनका क्षेत्र समाज है। पारिवारिक जीवन की अपराध-घटनाओं को इन्होंने उभारा है। इन एकांकियों के घटनाचक्र अस्वाभाविक नहीं हैं, बल्कि मनोवैज्ञानिक विश्वसनीयता के अर्जन में इनके पात्रों के साथ-साथ विषयवस्तु भी समर्थ है। वस्तुतः यह विषय एकांकी के क्षेत्र में अछूता है और उपाध्यायजी इसमें काफी प्रयोग कर सकते हैं। 'अन्तिम प्रहर' और 'बबूल की छाँह' का शिल्प और उपचार काफी सामर्थ्यवान् है। यथार्थ के आग्रह के कारण वे समस्यामूलक भी हैं। 'प्रयोग नं० १३', 'जाल की परतें' और 'धूमकेतु' अन्य अपराधविषयक रेडियो एकांकी हैं। इनमें 'प्रयोग नं० १३' वैज्ञानिक रेडियो-एकांकी है, 'जाल की परतें' पारिवारिक और 'धूमकेतु' रहस्यात्मक। 'बबूल की छाँह' का तो तमिल अनुवाद भी हो चुका है। इस क्षेत्र में श्री उपाध्याय का महत्त्व इसी दृष्टि से है कि इन्होंने अपनी रचनाओं के लिए ऐसे क्षेत्र का चुनाव किया है जो नाटक एवं एकांकी-साहित्य के लिए सर्वथा नवीन एवं मौलिक है। अतः इनके रेडियो-एकांकी विषयवस्तु की दृष्टि से नवीन क्षितिज के अन्वेषी हैं।

वातावरण एवं रहस्य-सृजन में यद्यपि ध्वनि-संयोजन का उत्तरदायित्व अधिक होता है, फिर भी लेखकीय कौशल का अपना महत्त्व है। इस दृष्टि से श्री उपाध्याय के

रेडियो-एकांकी शिल्पगत उपलब्धि अर्जन करते हैं। किन्तु ये एकांकी अभी तक साहित्यिक स्थायित्व के पूर्ण अधिकारी नहीं माने जा सकते। इसलिए कि उपाध्यायजी के एकांकियों में अभी सोद्देश्यता—समाजगत अथवा कलागत—का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है। अभी वे प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रयोग को वे अधिक मानवीय, अधिक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक बनायें—इसकी अपेक्षा है।

समानतः रेडियो-एकांकी के विकास के लिए उसे प्रकाशन का आधार तथा सरकारी नीति से मुक्ति मिलनी चाहिए। ऐसा इसलिए भी कि रेडियो-एकांकी तथा नाटक का अब तो शास्त्र भी निर्मित हो चुका है। प्रो० सिद्धनाथ कुमार का 'रेडियो नाट्य-शिल्प' इस दृष्टि से स्तुत्य प्रयास है। श्री सिद्धनाथजी एक अच्छे रेडियो-नाटककार भी हैं, फलतः रेडियो-नाट्य-शिल्प की इनकी पकड़ गहरी है।

नाट्य-क्षेत्र में और भी प्रयोग हुए हैं, जिनमें गीतिनाट्य और वेश्मनाटक प्रधान हैं। इनमें वेश्मनाटक को तो अभी-अभी विदेश से ग्रहण किया गया है, इसलिए इसका कोई स्वतंत्र लक्षण अभी निर्धारित नहीं किया जा सकता। वैसे, एक और प्रयोग है—अन्यापदेशिक नाटक, जिसमें कभी सर्वमान्य प्रतीकों को रखा जाता है या कभी-कभी भावों को ही मानवीकृत करके पात्रता दी जाती है। इस क्षेत्र में हिन्दी में दो ही पुस्तकें उपलब्ध हैं—'कामना' और 'ज्योत्स्ना'। इस प्रकार के नाटकों का उद्देश्य प्रतीकों अथवा भावों के माध्यम से किसी उद्देश्यविशेष का उद्‌घाटन करना होता है। 'कामना' में सन्तोष, विनोद, कामना इत्यादि मनोभावों के माध्यम से विदेशी संस्कृति की कुप्रवृत्तियों से भारतीय संस्कृति की रक्षा का उपक्रम है। 'ज्योत्स्ना' में पृथ्वी पर ही स्वर्ग उतार लाने का दृष्टिकोण है। इस पद्धति का प्रयोग प्रसादजी ने कुछ हद तक 'कामायनी' में भी किया है, जहाँ लज्जा, काम आदि मनोभावों को पात्रता दी गयी है।

गीतिनाट्य-सम्बन्धी काफी प्रयोग हिन्दी में हुए हैं। अमानत की 'इन्दर-सभा' पहली रचना है। उसके बाद का 'करुणालय' शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी में लिखित सर्वप्रथम गीतिनाट्य है। 'करुणालय' का रूप उतना निखरा हुआ नहीं है। नाट्य-शिल्प तथा भाषागत परिनिष्ठा की दृष्टि से निराला का 'पंचवटी-प्रसंग' श्रेष्ठ गीतिनाट्य है। उदयशंकर भट्ट ने भी पौराणिक प्रसंगों पर आधारित 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगन्धा' तथा 'राधा' आदि प्रसिद्ध गीतिनाट्य लिखे। इनमें पौराणिक पात्रों के माध्यम से आज की समस्याओं का निर्देश किया गया है। इस दृष्टि से भट्टजी ने अपनी जागरूकता तथा इतिहास के प्रति अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। पात्रों के अन्तर्बाह्य के अन्तर्द्वन्द्व-चित्रण में काफी स्वाभाविकता है साथ ही उनका कविहृदय इन गीतिनाट्यों में काव्यमय वातावरण उपस्थित करने में काफी सफल है। श्री भगवतीचरण वर्मा ने भी गीतिनाट्य लिखे हैं—'तारा' इनका एकांकी-गीतिनाट्य है।

पन्तजी का गीतिनाट्य-संग्रह 'रजत-शिखर' है। ये नाटक अपने संक्षिप्त रूप में

रेडियो से भी प्रसारित हो चुके हैं। इनमें छह गीतिनाट्य हैं। इनमें पंत-काव्य की परवर्ती प्रवृत्तियाँ—आध्यात्मिकता और भौतिकता, मनुष्य के उदात्त और सामान्य की सम्मिलन-भूमि का अन्वेषण तथा विश्व-मानववाद के स्वर मुखर हैं। श्री जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी कुछ सुन्दर रेडियो-गीतिनाट्य लिखे हैं।

'पत्थर का लैम्प पोस्ट' में शरद देवड़ा की अन्य रचनाओं के साथ-साथ उनके तीन एकपात्रीय काव्य-एकांकी संग्रहीत हैं। इन काव्य-एकांकियों की दो विशेषताएँ हैं—एक यह कि ये एकपात्रीय हैं जो सम्भवतः हिन्दी में प्रथम प्रयोग है, दूसरी यह कि ये मुक्तवृत्त में लिखे गये हैं। इन दो स्थापत्यगत प्रयोगों के लिए देवड़ा जी बधाई के पात्र हैं। इन काव्य-एकांकियों में 'भैरोंजी वाला टीबा' में एक आत्मनिष्ठपतिका नारी का एकालाप है, 'दो तल्ले की छत वाला चौबारा' में मध्यवर्गीय परिवार की पत्नी के घुटन का चित्र है और 'बात जो मन ने कही, मन ने सुनी' में एक वृद्ध की यौन-विकृति का दृश्य है। कुल मिलाकर ये रचनाएँ समस्यामूलक हैं। तीव्र भाव-संक्रमण, रुचि-संकेन्द्रण तथा संक्षिप्तता के कारण शिल्प का अभिनव निखार इनमें द्रष्टव्य है। शरद देवड़ा के ये प्रयोग काफी महत्वपूर्ण हैं।

अन्य विधाओं में अब निबन्ध का प्रश्न ही शेष रह जाता है। निबन्ध एक सशक्त विधा है। विशेषकर इसलिए कि इसका क्षेत्र विस्तृत है। हिन्दी में निबन्ध-साहित्य का जन्म भारतीय समाज के नवजागरण-काल में होता है। इसका सम्बन्ध भारत की सांस्कृतिक और राजनीतिक नवचेतना से है। पत्रकारिता और निबन्ध की शुरुआत साथ-साथ होती है। 'राजा भोज का सपना' की रचना भारतेन्दु से पूर्व ही हो चुकी थी। इसमें मनुष्य के झूठे अहंकार और कीर्ति-लिप्सा का मार्मिक उद्घाटन किया गया है।

भारतेन्दु तथा उनके मंडल के अन्य लेखकों के निबन्धों में सामाजिक उत्तर-दायित्व, तत्कालीन राजनीति तथा व्यवस्थाजन्य कुरीतियों का अच्छा चित्रण मिलता है। वस्तुतः निबन्ध-साहित्य अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक ऋजु है। निबन्धकार अपनी संवेदना और प्रतिक्रिया बिना किसी व्याज के स्पष्टतर रूप में ऋजुतः पाठक के सामने रख देता है। यह अपेक्षाकृत स्वच्छन्द विधा है, जिसमें शिल्पगत शास्त्रीयता अथवा परिनिष्ठा की अपेक्षा कम से कम होती है। दूसरी ओर निबन्ध को विषय-क्षेत्र का अव्याहत विस्तार भी प्राप्त है। यह अधिक लचीली साहित्य-विधा है। फलतः अपने प्रारम्भकाल में ही अपनी सम्भावनाओं को लेकर निबन्ध, साहित्य की एक स्वतंत्र विधा की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इसीलिए १९वीं शती का भारत जितनी स्पष्टता और सावयवी रूप में भारतेन्दु के निबन्ध-साहित्य में प्रतिबिम्बित हुआ, उतना अन्य विधाओं में नहीं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मुख्यतः राजनीतिक, सामाजिक और अन्य सांस्कृतिक विषयों पर निबन्ध लिखे, जिनमें उनका उद्देश्य पाखंडों और रूढ़ियों का विरोध रहा।

उन्हें व्यंग्य करने का क्षेत्र काफी विस्तृत मिल गया था, फलतः अवसर मिलने पर वे व्यंग्य करने में नहीं चूकते थे। उन्होंने कुछ विवरणात्मक निबन्ध भी लिखे। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से भारतेन्दु का निबन्ध-साहित्य वैविध्यपूर्ण है। नाटकीय शैली में वे प्रभावोत्पादक व्यंग्य देते थे।

इस मंडल के अन्य लेखको में पं० प्रतापनारायण मिश्र, श्री बालकृष्ण भट्ट और श्री बालमुकुन्द गुप्त महत्त्वपूर्ण है। मिश्रजी ने 'ब्राह्मण' के माध्यम से विनोदपूर्ण शैली में 'दाँत', 'भौं' जैसे विषयों पर निबन्ध लिखकर देशसेवा, समाज की उन्नति, स्वधर्म, स्वभाषा-प्रेम आदि अनेक विषयों की चर्चा की। इन्होंने निबन्ध की भाषा-शैली को और भी निखार दिया। इनकी भाषा का स्वाभाविक रूप, अबाधित प्रवाह, सजीवता तथा शैली में अनुप्रास और श्लेष के चमत्कार इनके मस्त और मनमौजी व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते है।

पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' के माध्यम से साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। भट्टजी प्रगतिशील विचार के लेखक थे। फलतः वे अन्धानुकरण के विरोधी थे। अन्धानुकरण चाहे देशी हो या विदेशी, उनका उससे विरोध था। उनकी दृष्टि मे 'निरे राम-राम जपने वाले भोंदूदास' हैं। उन्हें स्वार्थपरता, आडम्बर, पाखड और रूढ़ि से चिढ़ थी। उनके निबन्धों के शीर्षक उनकी स्वच्छन्दता के परिचायक हैं, जैसे—'रोटी तो किसी भाँत कमा खायँ मुछन्दर', 'माँगबो भलो न बाप सों जो विधि राखैं टेक', 'जमीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या', 'बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे' आदि। उनके निबन्धों में तर्कणा और व्यवस्था अपेक्षाकृत काफी है। वे विद्वान् थे और विद्वत्ता की छाप निबन्धों पर गहरी है।

श्री बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी की गद्य-शैली में निखार तथा व्यंजकता और साङ्केतिकता लाने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। गद्य-शैली के निर्माण में इनका योगदान काफी है। वस्तुतः आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कार्यो का प्रारम्भ इन्होंने कर दिया था। गुप्तजी में युगानुकूल राजनीतिक सजगता काफी थी। उन्होंने हिन्दी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि प्रश्नों पर निबन्ध लिखे। पर इनकी प्रसिद्धि इनके व्यंग्यलेखों—'शिवशंभु के चिट्ठे' और 'खत' पर आधारित है।

'सरस्वती' के प्रकाशन (सन् १९०० ई०) के बाद निबन्ध-लेखन में साहित्यिकता और विद्वत्ता बढ़ गयी। क्रमशः जिन्दादिली का अभाव होता गया। आचार्य द्विवेदी ने सन् १९०३ ई० में 'सरस्वती' का सम्पादन प्रारम्भ किया और तब निबन्ध का विषय अपेक्षाकृत गम्भीर होने लगा। निबन्ध में उपचार-गाम्भीर्य का भी सन्निवेश हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में सामाजिक, राजनीतिक तथा भाषासम्बन्धी गम्भीर निबन्ध लिखे जाने लगे। तत्कालीन राजनीतिक सरगर्मियों को निबन्ध-साहित्य ने भरपूर अभिव्यक्ति दी। वस्तुतः अब निबन्ध ज्ञान-संग्रह का विषय बन गया था। आलोचनात्मक निबन्धों की बाढ़-सी आयी। किन्तु फिर भी निबन्धों में व्यग्य और विनोद की मात्रा की कमी नहीं रही। द्विवेदी-काल के पूर्व के निबन्धों की

ज़िन्दादिली ने एक अलग रास्ता अख्तियार किया—भावात्मक और वैयक्तिक, जिसमें विषय के विवेचन को ललित रूप दिया गया। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने अपने गंभीर व्यक्तित्व के बावजूद 'गोपियों की भगवद्भक्ति', 'समालोचना का सत्कार' आदि निबन्धों में व्यंग्य तथा हास्य-विनोद के पुट दिये। इसी प्रकार बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, गुलाबराय, पद्मसिंह शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि ने निबन्ध-साहित्य को समृद्ध किया, इनके निबन्ध बहुधा आलोचनात्मक ही हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-निबन्ध के क्षेत्र में अभिनव शैली लेकर प्रवेश करते हैं। मनोविकारों से सम्बद्ध उनके निबन्ध जो 'चिन्तामणि' (प्रथम भाग) में संग्रहीत हैं, भावात्मक हैं। साहित्य के तत्त्वों की विवेचना के क्रम में शुक्लजी ने मनोविकारों के स्वरूप-विश्लेषण की अपेक्षा समझी थी। फलतः उन्होंने रस से सम्बद्ध मनोभावों का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया। 'करुणा', 'श्रद्धा और भक्ति', 'लोभ और प्रीति' आदि उनके गम्भीर विवेचनात्मक लेख हैं। इनमें विषय-विवेचन के साथ ही व्यक्तिनिष्ठता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। उन्हीं के शब्दों में ये निबन्ध 'अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं' जिसकी 'यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि' पर हृदय को भी साथ लेकर' तथा इनमें 'अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है।'[१] इन निबन्धों में व्यक्तिनिष्ठता के साथ-साथ व्यंग्य-विनोद और विषय-विवेचन की शास्त्रीयता भी काफी है। शुक्लजी ने गद्य-शैली को सामासिकता तथा शास्त्रीयता दी। उनके गद्य में नयी व्यंजकता है, वाक्य संश्लिष्ट एवं ध्वन्यात्मक हैं।

द्विवेदी-युग में राजनीतिक जागरण के साथ-साथ साहित्यिक चेतना भी उभरी। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्ध जहाँ राजनीतिक सजगता को स्वर दे रहे थे, वहाँ शुक्लजी के निबन्ध साहित्य की नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर रहे थे।

शुक्लजी के बाद 'ललित निबन्धों' का क्षेत्र और भी विस्तृत हुआ। शुक्ल-जी ने मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र की व्यावहारिक व्याख्या की थी। इस परम्परा में पत्र-पत्रिकाओं में काफी निबन्ध लिखे जाने लगे।

× × ×

हमने पूर्व ही कहा है कि आचार्य द्विवेदी के समय से निबन्धों की मुख्यतः दो दिशाएँ हो गयीं आलोचनात्मक और भावात्मक—परवर्ती का विकास वैयक्तिक निबन्धों के रूप में निरन्तर होता गया। यहाँ हमारा विवेच्य आलोचनात्मक निबन्ध नहीं है—यह द्रष्टव्य है।

अस्तु। वैसे वैयक्तिक निबन्धों का सूत्रपात भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में हो चुका था, किन्तु इसका सम्यक् विकास बाद में हुआ। सन् १९३४ ई० में लक्ष्मीकान्त झा का 'मैंने कहा' निबन्धसंग्रह प्रकाशित हुआ।

---

१. चिन्तामणि, भाग-१, 'निवेदन' से।

यहाँ से वैयक्तिक निबन्ध का विकास अव्याहतरूप से होता गया। इस क्षेत्र में आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी, श्री सियाराम शरण गुप्त, श्री विद्यानिवास मिश्र, श्री जैनेन्द्र कुमार आदि मुख्य हैं।

डॉ० द्विवेदी के वैयक्तिक निबन्धों में पाण्डित्य के साथ-साथ मुस्कान बिखेरने वाला व्यंग्य मिलता है, जिसमें कहीं-कहीं संस्मरण के पुट के कारण काफी हार्दिकता आ जाती है। 'अशोक के फूल' और 'कल्पलता' इनके प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह है।

बख्शीजी ने जीवन, समाज, धर्म आदि पर कहानीपन तथा नाटकीयता का समावेश करके निबन्ध लिखे हैं। ये द्विवेदी-युग के उदारदलीय लेखक थे।

श्री सियारामशरण गुप्त की वैष्णवता उनके निबन्धों में भी वर्त्तमान है। श्री विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध गंभीर और विद्वत्तापूर्ण अधिक, वैयक्तिक कम है। भाषा और विषयगत पाण्डित्य के कारण इनके निबन्ध काफी कठिन हो गये है। 'छितवन की छाँह' उनका प्रतिनिधि निबंध-संग्रह है।

जैनेन्द्रजी अपनी दार्शनिक प्रकृति को निबन्ध-क्षेत्र में भी छोड़ नहीं पाये हैं, बल्कि यों कहें कि उनकी यह वृत्ति निबन्ध के क्षेत्र में और भी प्रबल रही है। किन्तु निबन्धों में उनकी दार्शनिकता शास्त्रीय कठोरता या नीरसता लेकर नहीं आयी है। यहाँ वह व्यावहारिक बन गयी है। 'श्रेय और प्रेय' उनका प्रतिनिधि निबन्ध-संग्रह है।

'मतवाला' के प्रकाशन के साथ स्वर्गीय आचार्य शिवपूजन सहाय ने साहित्यिक व्यंग्य काफी लिखे। इनके पूर्व भारतेन्दु ने भी व्यंग्यप्रधान निबन्ध लिखे थे तथा उनकी मंडली ने भी निबन्धों में व्यंग्य को काफी स्थान दिया था। निराला के निबन्ध अपेक्षाकृत अधिक पैने हैं। बेढब बनारसी ने राजनीतिक व्यंग्य लिखे। नये वैयक्तिक निबन्धकारों में व्यंग्य का तीखापन और बढ़ा। नयी प्रतिभाएँ समझौतावादी नीति का परित्याग करती गयीं। समाज, राजनीति, धर्म अथवा चाहे जो भी क्षेत्र हो, उनकी रूढ़ियों तथा असंगतियों पर तीखा प्रहार किया गया। 'विप्लव' मे यशपाल ने तथा 'खरगोश के सींग' में श्री प्रभाकर माचवे और 'बकलमखुद' मे नामवरसिंह ने इसी प्रकार के तीखे व्यंग्य-प्रधान निबन्ध लिखे। इस प्रकार के निबन्ध सिर्फ स्वान्तःसुखाय न होकर पुनर्मूल्यांकन की प्रवृत्ति से युक्त हैं। यहाँ ध्वंस का स्वर ही अधिक है। असंगतियाँ ही इनमें प्रहार-लक्ष्य हैं। स्वातंत्र्योत्तरकाल में उत्पन्न राजनीतिक असंगतियों ने निबन्ध की इस दिशा को और भी बल दिया। हरिशंकर परसाई और कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के निबन्ध इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं। परसाई के निबन्धों मे असंगतियों की बखिया उधेड़ने की प्रवृत्ति है, तिलमिला देने वाला व्यंग्य है 'जैसे उनके दिन फिरे' के निबंध इसके प्रमाण हैं। प्रभाकरजी के निबन्धों में बखिया उधेड़ने के अतिरिक्त सर्जना की सजगता भी है। प्रो० तेजनारायण सिंह ने राजनीतिक पाखंडों पर तीखा प्रहार किया है। उनका 'रंगीन चश्मा' शीर्षक निबन्ध इस दृष्टि से काफी विचारोत्तेजक है। एक वाक्य मुलाहजा फरमाइए—"खादी वर्षों बक्स में पड़े रहने पर भी हवा का रुख पाते ही आत्मबलहीन, चरित्रबलक्षीण तथा अवसरवादी रँगेसियार जैसे खद्दरधारी को जब ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर पहुँचाकर देवसुलभ

नन्दनकानन का आनन्द दिला सकती है तो रंगीन चश्मा भी ग्रीष्म ऋतु का सहारा पाकर संसार की सारी सुन्दर विभूतियों का अनियन्त्रित उपभोग कराने की शक्ति रखता है।"

उपर्युक्त कटु आलोचनात्मक प्रवृत्ति से थोड़ा हटकर निबन्धकारों का एक वर्ग और है। इस वर्ग के अन्तर्गत वे निबन्धकार हैं जिन्होंने दैनन्दिन व्यवहार की वस्तुओं, अवस्थाओं आदि के माध्यम से अथवा उन्हीं पर सोद्देश्य व्यंग्य लिखे हैं। इनमें प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा और श्री कामताप्रसाद सिंह 'काम' प्रधान हैं। 'खट्टामीठा' शर्माजी के वैयक्तिक निबन्धों का संग्रह है। शर्माजी अनुशासनप्रिय हैं तथा व्यवस्था को वे अधिक महत्त्व देते हैं। अनुशासन और व्यवस्था में जहाँ भी उन्हें अभाव मिलता है, वे उसपर व्यंग्य करने से नहीं चूकते। उदाहरण के लिए 'प्रणाम की प्रदर्शनी में' शीर्षक निबन्ध में इन्होंने प्रणाम करने के क्रम में सब्जीमंडी की विविधता जो आती है, उसपर गहरा व्यंग्य किया है। वैसे भाषा, राष्ट्रभाषा तथा अन्य व्यावहारिक विषयों पर इन्होंने सृजनात्मक व्यंग्य किये हैं। हिन्दी भाषा के खिचड़ीफरोशी प्रयोग पर इन्होंने गहरा व्यंग्य किया है। हिन्दी का खिचड़ीफरोशी रूप उनकी दृष्टि में आज की फैशनपरस्ती की देन है, जबकि फैशनपरस्ती में उनके अनुसार "असभ्यता, अशिष्टता, केवल कूड़ा-करकट ही भरा है" ('प्रणाम की प्रदर्शनी में' से)।

स्वर्गीय श्री 'काम' जी विषय और शैली दोनों दृष्टियों से व्यावहारिक हैं। 'नाविक के तीर', 'मैं छोटानागपुर में हूँ', 'भूलते-भागते क्षण' आदि उनके प्रतिनिधि वैयक्तिक निबन्धसंग्रह हैं।

डॉ० शिवनन्दनप्रसाद ने मधुर व्यंग्य-कटाक्षों से युक्त कतिपय वैयक्तिक निबन्ध लिखे हैं। इनके वैयक्तिक निबन्ध प्रायः आकाशवाणी, पटना से प्रसारित होते रहे हैं। इनका कोई निबन्धसंग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है। आकाशवाणी द्वारा प्रसारित वैयक्तिक निबन्धों में 'चाय का प्याला' हास्य के छींटे बिखेरता है। उनके 'चौराहा' शीर्षक निबन्ध में आज की गड़बड़झाला (Chaos) वाली सभ्यता की असगतियों पर प्रकाश डाला गया है। निर्माण के क्षण व्यस्तता में नहीं, एकान्त-साधना में आते हैं जिनके अभाव के कारण आज औसतन 'औसतवादिता' और 'मज्झिमनिकायवादी समझौतावादिता' बढ़ती जा रही है, यह इस निबन्ध का प्रतिपाद्य है।

श्री शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव नयी पीढ़ी के वैयक्तिक निबन्धकारों में प्रतिभा-सम्पन्न तथा पुष्ट भावी सम्भावनाओं से युक्त व्यक्ति हैं। इनके सद्यः प्रकाशित वैयक्तिक निबन्ध-संग्रह 'लिफाफा देखकर' का कलेवर वैविध्यपूर्ण है। उसमें 'महिमा पान की' से लेकर 'दिल्ली-दर्शन' तक के विषय-वैचित्र्य देखे जा सकते हैं। गम्भीर व्यंग्य और आलोचना वहाँ है, पर कहीं चॉकलेट-कोटेड तो कहीं नीम-करैली से भी तीखी। ऐसे स्थलों पर हमारे वर्त्तमान जीवन की असंगतियों का उभार कुछ

इतना कटु है कि तबीयत तिलमिला उठती है। उन निबन्धों में 'लिफाफा' के रहस्य की अपेक्षा, 'पोस्टकार्ड' का खुला-खुला यथार्थ ही अधिक है।

इस प्रकार वैयक्तिक निबन्धों तथा निबन्ध के अन्य रूपों का काफी विकास हो रहा है। आलोचकों ने रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रा-विवरण, स्केच इत्यादि को भी निबन्ध की कोटि में रखा है। वस्तुतः इन विधाओं का अभी सम्यक् स्वतंत्र विकास हुआ भी नहीं है।

× × ×

समासतः हमने हिन्दी गद्य-शैलियों तथा विधाओं का विवेचनात्मक विकास दिखलाने की चेष्टा की है। गद्य आज के जीवन के लिए अनिवार्य अपरिहार्य अभिव्यक्ति-माध्यम है। विज्ञान, राजनीति और साहित्य के विकास के साथ-साथ गद्य की सामर्थ्य भी बढ़ती जायगी—ऐसा इसलिए कि अभिव्यक्ति के नवीन क्षेत्रों के अनुकूल इसकी क्षमता भी दृढ़तर होगी।

साहित्य का उत्तरदायित्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। हिन्दी-साहित्य ने निरन्तर युग को अभिव्यक्ति दी है। राष्ट्रभाषासम्बन्धी सरकारी नीति के कारण हिन्दी की क्षति की सम्भावना है, किन्तु हिन्दी ने इतना सामर्थ्य-अर्जन कर लिया है कि इसकी प्रगति अव्याहत रूप में होती रहेगी। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि हमारा साहित्य सम्प्रति के यथार्थ मूल्यांकन के साथ भविष्य की सम्भावनाओं को भी स्पष्ट करता चले।